श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत

(श्रीवीरजिन-गुणकथा-सहकृत)

हिताऽन्वेषणोपायभूत

युक्त्यनुशासन

(युक्तिपरक जैनागम)

[समन्तभद्र-भारतीका एक प्रमुख अङ्ग]

अनुवादक और परिचायक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जिला सहारनपुर

प्रथम संस्करण १००० | वीर-शासन-जयन्ती, वीर संवत् २४७७ वि० संवत् २००८, जुलाई १९५१ | मूल्य सवा रुपया

ग्रन्थानुक्रम

कुल पृष्ठसंख्या = १४८

राजहंस प्रेस, सदर बाजार, दिल्ली

समर्पण

त्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् !
तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामि-समन्तभद्र ! आपकी यह अनुपम-कृति 'युक्त्यनुशासन' मुझे आजसे कोई ४६ वर्ष पहले प्राप्त हुई थी, जब कि यह 'सनातन जैनग्रन्थमाला'के प्रथम गुच्छकमें पहली ही बार बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। उस वक्तसे बराबर यह मेरी पाठ्य वस्तु बनी हुई है, और मैं इसके अध्ययन-मनन तथा मर्मको समझनेके यत्न-द्वारा इसका समुचित परिचय प्राप्त करने में लगा रहा हूँ। मुझे वह परिचय कहाँ तक प्राप्त हो सका है और मैं कितने अंशोंमें इस ग्रन्थके गूढ तथा गंभीर पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको मालूम करनेमें समर्थ हो सका हूँ, यह सब संक्षेपमें ग्रन्थके अनुवादसे, जो आपके अनन्य भक्त आचार्य विद्यानन्दकी संस्कृत टीकाका बहुत कुछ आभारी है, जाना जा सकता हूँ, और उसे पूरे तौर पर तो आप ही जान सकते हैं। मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपकी आराधना करते हुए आपके ग्रन्थों परसे, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने जो कुछ अर्थका अवलोकन किया है, यह कृति उसीका प्रतिफल है। इसमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब होने-से वास्तवमें यह आपकी ही चीज़ है और इस लिए आपको ही सादर समर्पित है। आप लोकहितकी मूर्ति हैं, आपके प्रसाद-से इस कृति-द्वारा यदि कुछ भी लोकहितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके भारी ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझूंगा।

विनम्र
जुगलकिशोर

धन्यवाद

समन्तभद्र-भारतीके प्रमुख अङ्गस्वरूप 'युक्त्यनुशासन' नामक इस महत्वपूर्ण सुन्दर ग्रन्थके सानुवाद प्रकाशनका श्रेय श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर तीन वर्ष हुए वीरसेवामन्दिरको अनेक ग्रन्थोंके अनुवादादि-सहित प्रकाशनार्थ दस हजार रुपयेकी सहायता प्रदान की थी और जिससे स्तुति-विद्या, शासन-चतुस्त्रिंशिका और श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—जैसे ग्रन्थों-के अलावा श्रीविद्यानन्द-स्वामीका 'आप्त-परीक्षा' नामका महान् ग्रन्थ भी संस्कृत स्वोपज्ञ टीका और हिन्दी अनु-वादादिके साथ प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ भी उसी आर्थिक सहायतासे प्रकाशित हो रहा है। अतः प्रकाशनके इस शुभ अवसर पर आपका साभार स्मरण करते हुए आपको हार्दिक धन्यवाद समर्पित है।

जुगलकिशोर मुख़्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशकके दो शब्द

स्वामी समन्तभद्रकी यह महनीय-कृति 'युक्त्यनुशासन', जो जिज्ञासुओंके लिये न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहित-का विवेक करानेवाली अचूक कसौटी है, आज तक हिन्दी संसार-की आँखोंसे ओझल थी—हिन्दीमें इसका कोई भी अनुवाद नहीं हो पाया था और इसलिये हिन्दी जनता इसकी गुण गरिमा-से अनभिज्ञ तथा इसके लाभोंसे प्रायः वंचित ही थी। यह देख कर बहुत दिनोंसे इसके हिन्दी अनुवादको प्रस्तुत कराकर प्रकाशितकरनेका विचार था। तदनुसार ही आज इस अनुपम कृतिको विशिष्ट हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित करते और उसे हिन्दी जाननेवाली जनताके हाथोंमें देते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है। अनुवादको न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय काशीने अपने 'प्राक्कथन' में 'सुन्दरतम, अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत और प्रामाणिक' बतलाया है। इससे ग्रन्थ-की उपयोगिता और भी प्रकाशित हो उठती है। आशा है अपने हितकी खोजमें लगे हुए हिन्दी पाठक इस ग्रन्थरत्नको पाकर प्रसन्न होंगे और आत्महितको पहचानने तथा अपनानेके रूप-में ग्रन्थसे यथेष्ट लाभ उठाने तथा दूसरोंको उठाने देनेका भरसक प्रयत्न करें।

श्रीमान् न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने इस ग्रन्थपर अपना जो 'प्राक्कथन' लिख भेजनेकी कृपा की है और जो अन्यत्र प्रकाशित है, उसके लिए वीरसेवामन्दिर उनका बहुत आभारी है और उन्हें हार्दिक धन्यवाद भेंट करता है।

जुगलकिशोर मुख़्तार
अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

अशुद्धि-विज्ञप्ति

(१) प्रेसके भूतोंकी कृपासे ग्रन्थ सानुवाद छपनेमें कहीं-कहीं कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं, जिनका संशोधन आवश्यक है उनकी विज्ञप्ति नीचे की जाती पाठक पहले ही उन्हें सुधार लेनेकी कृपा करें।

प्राक्कथन

युगप्रधान सर्वतोभद्र आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद-विद्याके सञ्जीवक और प्राण प्रतिष्ठापक थे। उन्होंने सर्वप्रथम भ० महावीर-के तीर्थको 'सर्वोदय' तीर्थ कहा। वे कहते हैं—हे भगवन्, आप-का अनेकान्त तीर्थ ही 'सर्वोदय-तीर्थ' हो सकता है, क्योंकि इसमें मुख्य और गौण-भावसे वस्तुका अनेकधर्मात्मक स्वरूप सध जाता है। यदि एक दृष्टि दूसरी दृष्टिसे निरपेक्ष हो जाती है तो वस्तु सर्वधर्म-रहित शून्य ही हो जायगी। और चूंकि वस्तुका विविध धर्ममय रूप इस अनेकान्तकी दृष्टिसे सिद्ध होता है अतः यही समस्त आपदाओंका नाश करनेवाला और स्वयं अन्तरहित सर्वोदय-कारी तीर्थ बन सकता है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

किसी भी तीर्थके सर्वोदयी होनेके लिये आवश्यक है कि—उसका आधार समता और अहिंसा हो, अहङ्कार और पक्षमोह नहीं। भगवान् महावीरका अनेकान्त-दर्शन उनकी जीवन्त अहिंसा-का ही अमृतमय फल है। हिंसा और संघर्षका मूलकारण विचार-भेद होता है। जब अहिंसामूर्त्ति कुमार सिद्धार्थ प्रव्रजित हुए और उनने जगत्की विषमता और अनन्त दुःखोंका मूल खोजनेके लिये बारह वर्षकी सुदीर्घ साधना की और अपनी कठिन तपस्याके बाद केवलज्ञान प्राप्त किया तब उन्हें स्पष्ट भास हुआ कि यह मानवतन-धारी अपने स्वरूप और अधिकारके अज्ञानके कारण स्वयं दुःखी हो रहा है और दूसरोंके लिये दुःखमय परिस्थितियोंका निर्माण

जान या अजानमें करता जा रहा है। श्रमण महाप्रभुने अपने निर्मल केवलज्ञानसे जाना कि इस विचित्रविश्वमें अनन्त द्रव्य हैं। प्रत्येक जड़ या चेतन द्रव्य अपनेमें परिपूर्ण है और स्वतंत्र है। वह अनन्त धर्मात्मक है, अनेकान्तरूप है। शुद्ध द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित नहीं करते। केवल पुद्गल द्रव्य ही ऐसे हैं जो अपनी शुद्ध या अशुद्ध हर अवस्थामें किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्यसे प्रभावित होते रहते हैं। एक द्रव्यका निसर्गतः दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक द्रव्यका अधिकार है तो अपने गुण और अपनी पर्यायोंपर। वह उन्हींका वास्तविक स्वामी है। पर इस स्वरूप और अधिकारके अज्ञानी मोही प्राणीने जड पदार्थ तो दूर रहे, चेतन द्रव्योंपर भी अधिकार जमानेकी दुर्वृत्ति और मूढ प्रवृत्ति की। इसने जड पदार्थोंका संग्रह और परिग्रह तो किया ही, साथ ही उन चेतन द्रव्योंपर भी स्वामित्व स्थापन किया जिन प्रत्येकमें मूलतः वैसे ही अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणोंकी सत्ता है, जो उसी तरह सुख-दुःखका संवेदन और संचेतन करते हैं जिस प्रकार कि वह, और वह भी किया गया जाति-वर्ण और रंगके नामपर।

श्रमण-प्रभुने देखा कि यह विषमता तथा अधिकारोंकी छीना-झपटीकी होड़ व्यवहारक्षेत्रमें तो थी ही, पर उस धर्म-क्षेत्रमें भी जा पहुँची है जिसकी शीतल छायामें प्राणिमात्र सुख, शान्ति और समताकी सांस लेता था। मांसलोलुपी प्रेयार्थी व्यक्ति पशुओंकी बलि धर्मके नामपर दे रहे थे। उन प्रवृत्तिरक्त पर शमतुष्टिरिक्त यज्ञजीवियोंको भगवान्ने यही कहा कि—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य-पर कोई अधिकार नहीं और अधिकार जमानेकी अनधिकार चेष्टा ही अधर्म है, पाप है और मिथ्यात्व है। फिर धर्मके नामपर यह चेष्टा तो घोर पातक है।

स्वामी समन्तभद्रने भूतचैतन्यवादी चार्वाकोंका खण्डन करते

समय उन्हें 'आत्मशिश्नोदरपुष्टितुष्ट' (स्वार्थी, काम और उदर पोषणमें मस्त) और 'निर्ह्रीभय' (भय और लोकलाजसे रहित) विशेषण दिया है। पर वस्तुतः देखा जाय तो यज्ञजीवी और धर्म-हिंसी लोग इन विशेषणोंके सर्वथा उपयुक्त हैं। भगवानके सर्वोदय शासनमें प्रत्येक प्राणीको धर्मके सब अवसर हैं, सभी द्वार उन्मुक्त हैं। मनुष्य बिना किसी जाति, पांति, वर्ण, रंग या कुल आदिके भेदके अपनी भावनाके अनुसार धर्मसाधन कर सकता है।

श्रमण महाप्रभुने अहिंसाकी चरम साधनाके बाद यह स्पष्ट देखा कि जब तक अहिंसाका तत्त्वज्ञान दृढ़भूमि पर नहीं होगा तब तक बुद्धिविलासी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक इसकी उपासना नहीं कर सकते। खासकर उस वातावरणमें जहां 'सत्, असत्, उभय अनुभय' 'नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय' आदि चतुष्कोटियोंकी चरचा चौराहों पर होती रहती हो। विविध विचारके बुद्धिमान प्राणी प्रभुके संघमें उनकी अलौकिक वृत्तिसे प्रभावित होकर दीक्षित होने लगे, पर उनकी वस्तुतत्त्वके बोधकी जिज्ञासा बराबर बनी ही रही। उनकी साधनामें यह जिज्ञासा परमोत्कृष्ट आकुलता उत्पन्न करनेके कारण महान कंटक थी। इसकी शान्तिके बिना निराकुल और निर्विकल्प समता पाना कठिन था। उन-

है। छद्मस्थोंका ज्ञान उसके पूर्ण रूपको नहीं जान सकता। उसमें सत, असत, उभय, अनुभय ये चार कोटियां ही नहीं, इनको मिलाजुलाकर जितने प्रश्न हो सकते हों उन अनन्त सप्तभंगियोंके विषयभूत अनन्त धर्म प्रत्येक वस्तुमें लहरा रहे हैं। उन्होंने बुद्धकी तरह तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें अपने शिष्योंको अनुपयोगिताके कुहरेमें नहीं डाला और न इस तरह उन्हें तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें मानसिक दैन्यका शिकार ही होने दिया। उनने आत्मा लोक परलोक आदिकी नित्यता अनित्यता आदिके निश्चित दृष्टिकोण समझाये। इस तरह मानस अहिंसाकी परिपूर्णताके लिये विचारोंका वस्तुस्थितिके आधारसे यथार्थ सामञ्जस्य करनेवाला अनेकान्त दर्शनका मौलिक उपदेश दिया गया। इसी अनेकान्तका निर्दुष्ट रूपसे कथन करने वाली भाषाशैली 'स्याद्वाद' कहलाती है। स्याद्वादका 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मके सिवाय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व करता है। वह उन मूक धर्मोंका सद्भाव तथा वस्तुमें उनका बराबरीका अधिकार बताता है और श्रोताको यह सोचनेको बाध्य करता है कि वह शब्दसे उच्चरित धर्मरूप ही वस्तु न समझ बैठे। अतः मानस अहिंसा 'अनेकान्त दर्शन', वाणीकी अहिंसा 'स्याद्वाद' तथा कायिक अहिंसा 'सम्यक् चारित्र' ये अहिंसा प्रासादके मुख्य स्तम्भ हैं। युगावतार स्वामी समन्तभद्रने अनेकान्त, स्याद्वाद तथा सम्यक्चारित्रके सारभूत मुद्दोंका विवेचन इस युक्त्यनुशासनमें दृढ निष्ठा और अतुल वाग्मिताके साथ किया है, जो कि उन्हीं वीरप्रभुके स्तोत्र रूपमें लिखा गया है। वे जैनमतका अमृतकुम्भ हाथमें लेकर अटूट विश्वाससे कहते हैं—भगवन्! दया, दम, त्याग और समाधिमें जीवित रहने वाला तथा नय और प्रमाणकी द्विविध शैलीसे वस्तुका यथार्थ निश्चय करने वाले तत्त्वज्ञानकी दृढ भूमिपर प्रतिष्ठित आपका मत अद्वितीय है, प्रतिवादियोंके द्वारा अजेय है—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै र्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थका सुन्दरतम अनुवाद समन्तभद्र स्वामीके अनन्यनिष्ठ भक्त साहित्य-तपस्वी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने जिस अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत किया है वह न्याय-विद्याके अभ्यासियोंके लिये आलोक देगा। सामान्य-विशेष युतसिद्धि-अयुतसिद्धि, क्षणभंगवाद सन्तान आदि पारिभाषिक दर्शनशब्दोंका प्रामाणिकतासे भावार्थ दिया है। आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारकी यह एकान्त साहित्य-साधना आजके मोलतोलवाले युगको भी मँहगी नहीं मालूम होगी, जब वह थोड़ा-सा भी अन्तर्मुख होकर इस तपस्वीकी निष्ठाका अनुवादकी पंक्ति-पंक्तिपर दर्शन करेगा। वीरसेवामन्दिरकी ठोस साहित्य-सेवाएँ आज सीमित साधन होनेसे विज्ञापित नहीं हो रही हैं पर वे ध्रुवताराएँ हैं जो कभी अस्त नहीं होते और देश और कालकी परिधियाँ जिन्हें धूमिल नहीं कर सकतीं। जैन समाजने इस ज्ञान-होताकी परीक्षा ही परीक्षा ली। पर यह भी अधीर नहीं हुआ और आज भी वृद्धावस्थाकी अन्तिम डालपर बैठा हुआ भी नवकोंपलोंकी लालिमासे खिल रहा है और इसे आशा है कि—"कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी"। हम इस ज्ञानयोगीकी साधनाके आगे सश्रद्ध नतमस्तक हैं और नम्र निवेदन करते हैं कि इनने जो आबदार ज्ञानमुक्ता चुन रखे हैं उनकी माला बनाकर रखदें, जिससे समन्तभद्रकी सर्वोदयी परम्परा फिर युगभाषाका नया रूप लेकर निखर पड़े।

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी, ता० १-६-५१

महेन्द्रकुमार
(न्यायाचार्य)



प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'युक्त्यनुशासन' है। यद्यपि ग्रन्थके आदि तथा अन्तके पद्योंमें इस नामका कोई उल्लेख नहीं है—उनमें स्पष्टतया वीर-जिनके स्तोत्रकी प्रतिज्ञा और उसीकी परिसमाप्तिका उल्लेख है¹ और इससे ग्रन्थका मूल अथवा प्रथम नाम 'वीरजिनस्तोत्र' जान पड़ता है—फिर भी ग्रन्थको उपलब्ध प्रतियों तथा शास्त्र-भण्डारोंकी सूचियोंमें 'युक्त्यनुशासन' नामसे ही इसका प्रायः उल्लेख मिलता है। टीकाकार श्री-विद्यानन्दाचार्यने तो बहुत स्पष्ट शब्दोंमें टीकाके मंगलपद्य, मध्य-पद्य और अन्त्यपद्यमें इसको समन्तभद्रका 'युक्त्यनुशासन' नामका स्तोत्रग्रन्थ उद्घोषित किया है; जैसा कि उन पद्योंके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्" (१)
"स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः" (२)
"श्रीमद्वीरजिनेश्वराऽमलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः"(४)

---

१ "स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं"(१);"नरागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ" (६३); "इति ... स्तुतः शक्त्या श्रेयः पद-मधिगतस्त्वं जिन मया। महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये" (६४)।

यहाँ मध्य और अन्त्यके पद्योंसे यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थ वीरजिनका स्तोत्र होते हुए भी 'युक्त्यनुशासन' नामको लिये हुए है अर्थात् इसके दो नाम हैं—एक 'वीरजिनस्तोत्र' और दूसरा 'युक्त्यनुशासन'। समन्तभद्रके अन्य उपलब्ध ग्रन्थ भी दो दो नामोंको लिये हुए हैं; जैसा कि मैंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्रस्तावना-में व्यक्त किया है। पर स्वयम्भूस्तोत्रादि अन्य चार ग्रन्थोंमें ग्रन्थ-का पहला नाम प्रथम पद्य-द्वारा और दूसरा नाम अन्तिम-पद्य-द्वारा सूचित किया गया है और यहाँ आदि-अन्तके दोनों ही पद्योंमें एक ही नामकी सूचना की गई है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या 'युक्त्यनुशासन', यह नाम बादको श्रीविद्यानन्द या दूसरे किसी आचार्यके द्वारा दिया गया है अथवा ग्रन्थके अन्य किसी पद्यसे इसकी भी उपलब्धि होती है? श्रीविद्यानन्दाचार्यके द्वारा यह नाम दिया हुआ मालूम नहीं होता; क्योंकि वे टीकाके आदि मंगल पद्यमें 'युक्त्यनुशासन' का जयघोष करते हुए उसे स्पष्ट रूपमें समन्तभद्र-कृत बतला रहे हैं और अन्तिम पद्यमें यह साफ घोषणा कर रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्त्वकी समीक्षा करके श्रीवीरजिनेन्द्र-के निर्मल गुणोंके स्तोत्ररूपमें यह 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ कहा है। ऐसी स्थितिमें उनके द्वारा इस नामकरणकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। इसके सिवाय, शकसंवत् ७०५ (वि. सं. ८४०) में हरिवंशपुराणको बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने 'जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्, वचः समन्तभद्रस्य' इन पदोंके द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दोंमें समन्तभद्रको 'जीवसिद्धि' ग्रन्थका विधाता और 'युक्त्यनुशासन' का कर्ता बतलाया है। इससे भी यह साफ जाना जाता है कि 'युक्त्यनुशासन' नाम श्रीविद्यानन्द अथवा श्रीजिनसेनके द्वारा बादको दिया हुआ नाम नहीं है, बल्कि ग्रन्थकार-द्वारा स्वयंका ही विनियोजित नाम है।

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थके किसी दूसरे पद्यसे इस

नामकी कोई सूचना मिलती है? सूचना जरूर मिलती है। स्वामीजीने स्वयं ग्रन्थकी ४८वीं कारिकामें 'युक्त्यनुशासन'का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।"

इसमें बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं और वही (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है—अभीष्ट है।' ग्रन्थका सारा अर्थ प्ररूपण युक्त्यनुशासनके इसी लक्षणसे लक्षित है, इसीसे उसके सारे शरीरका निर्माण हुआ है और इसलिये 'युक्त्यनुशासन' यह नाम ग्रन्थकी प्रकृतिके अनुरूप उसका प्रमुख नाम है। चुनाँचे ग्रन्थकारमहोदय, ६३वीं कारिकामें ग्रन्थके निर्माणका उद्देश्य व्यक्त करते हुए, लिखते हैं कि 'हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावको अथवा दूसरोंके प्रति द्वेषभावको लेकर नहीं रचा गया है, बल्कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और किसी प्रकृतविषयके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह हितान्वेषणके उपायस्वरूप आपकी गुण-कथाके साथ कहा गया है।' इससे साफ जाना जाता है कि ग्रन्थका प्रधान लक्ष्य भूले भटके जीवोंको न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहितका विवेक कराकर उन्हें वीरजिन-प्रदर्शित सन्मार्गपर लगाना है और वह युक्तियोंके अनुशासन-द्वारा ही साध्य होता है, अतः ग्रन्थका मूलतः प्रधान नाम 'युक्त्यनुशासन' ठीक जान पड़ता है। यही वजह है कि वह इसी नाम से अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। 'वीरजिनस्तोत्र' यह उसका दूसरा नाम है, जो स्तुतिपात्रकी दृष्टिसे है, जिसका और जिसके शासनका महत्व इस ग्रन्थमें ख्यापित किया गया है। ग्रन्थके मध्यमें प्रयुक्त हुए किसी पदपरसे भी ग्रन्थका नाम रखनेकी प्रथा है, जिसका

एक उदाहरण धनञ्जय कविका 'विषापहार' स्तोत्र है, जो कि न तो 'विषापहार' शब्दसे प्रारम्भ होता है और न आदि-अन्तके पद्योंमें ही उसके 'विषापहार' नामकी कोई सूचना की गई है, फिर भी मध्य में प्रयुक्त हुए 'विषापहारं मणिमौषधानि' इत्यादि वाक्यपरसे वह 'विषापहार' नामको धारण करता है। उसी तरह यह स्तोत्र भी 'युक्त्यनुशासन' नामको धारण करता हुआ जान पड़ता है।

इस तरह ग्रन्थके दोनों ही नाम युक्तियुक्त हैं और वे ग्रन्थकार-द्वारा ही प्रयुक्त हुए सिद्ध होते हैं। जिसे जैसी रुचि हो उसके अनुसार वह इन दोनों नामोंमें से किसीका भी उपयोग कर सकता है।

ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय और महत्व—

यह ग्रन्थ उन आप्तों अथवा 'सर्वज्ञ' कहे जाने वालोंकी परीक्षाके बाद रचा गया है, जिनके आगम किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध हैं और जिनमें बुद्ध कपिलादिके साथ वीरजिनेन्द्र भी शामिल हैं। परीक्षा 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधि-वाक्त्व' हेतुसे की गई है अर्थात् जिनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोध रूप पाये गये उन्हें ही आप्तरूपमें स्वीकार किया गया है—शेषका आप्त होना बाधित ठहराया गया है। ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रकी इस परीक्षामें, जिसे उन्होंने अपने 'आप्त-मीमांसा' (देवागम) ग्रन्थमें निबद्ध किया है, स्याद्वादनायक श्रीवीरजिनेन्द्र, जो अनेकान्तवादि-आप्तोंका प्रतिनिधित्व करते हैं, पूर्णरूपसे समुत्तीर्ण रहे हैं और इसलिये स्वामीजीने उन्हें निर्दोष आप्त (सर्वज्ञ) घोषित करते हुए और उनके अभिमत अनेकान्तशासनको प्रमाणाऽबाधित बतलाते हुए लिखा है कि आपके शासनाऽमृतसे बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं आप्ताभिमानसे दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित है—

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

—आप्तमीमांसा

इस तरह वीरजिनेन्द्रके गलेमें आप्त-विषयक जयमाल डालकर और इन दोनों कारिकाओंमें वर्णित अपने कथनका स्पष्टीकरण करनेके अनन्तर आचार्य स्वामी समन्तभद्र इस स्तोत्रद्वारा वीरजिनेन्द्रका स्तवन करने बैठे हैं, जिसकी सूचना इस ग्रन्थकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' शब्दके द्वारा की गई है। टीकाकार श्रीविद्यानन्दाचार्यने भी 'अद्य' शब्दका अर्थ **'अद्याऽस्मिन् काले परीक्षावसानसमये'** दिया है। साथ ही, कारिकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आप्तमीमांसाके बाद रचा गया है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थङ्करपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः ? इति ते पृष्टा इव प्राहुः ।"

स्वामी समन्तभद्र एक बहुत बड़े परीक्षा-प्रधानी आचार्य थे, वे यों ही किसीके आगे मस्तक टेकनेवाले अथवा किसीकी स्तुतिमें प्रवृत्त होनेवाले नहीं थे। इसीसे वीरजिनेन्द्रकी महानता-विषयक जब ये बातें उनके सामने आईं कि 'उनके पास देव आते हैं, आकाशमें विना किसी विमानादिकी सहायताके उनका गमन होता है और

चंवर-छत्रादि अष्ट प्रातिहार्यों के रूपमें तथा समवसरणादिके रूपमें अन्य विभूतियोंका भी उनके निमित्त प्रादुर्भाव होता है, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'ये बातें तो मायावियोंमें–इन्द्रजालियोंमें–भी पाई जाती हैं, इनके कारण आप हमारे महान्-पूज्य अथवा आप्त-पुरुष नहीं हैं'[1]। और जब शरीरादिके अन्तर्बाह्य महान् उदयकी बात बतलाकर महानता जतलाई गई तो उसे भी अस्वीकार करते हुए उन्होंने कह दिया कि शरीरादिका यह महान उदय रागादिके वशीभूत देवताओंमें भी पाया जाता है। अतः यह हेतु भी व्यभिचारी है इससे महानता (आप्तता) सिद्ध नहीं होती[2]। इसी तरह तीर्थङ्कर होनेसे महानताकी बात जब सामने लाई गई तो आपने साफ कह दिया कि 'तीर्थङ्कर' तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपाय रूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, और यह बात बनती नहीं, क्योंकि तीर्थङ्करोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है। अतः उनमें कोई एक ही महान् हो सकता है, जिसका ज्ञापक तीर्थङ्करत्व हेतु नहीं, कोई दूसरा ही हेतु होना चाहिये[3]।

ऐसी हालतमें पाठकजन यह जाननेके लिये जरूर उत्सुक होंगे कि स्वामीजीने इस स्तोत्रमें वीरजिनकी महानताका किस रूपमें

१–३ देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नाऽतस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥
तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥
—आप्तमीमांसा

संद्योतन किया है। वीरजिनकी महानताका संद्योतन जिस रूपमें किया गया है उसका पूर्ण परिचय तो पूरे ग्रन्थको बहुत दत्तावधानताके साथ अनेक बार पढ़ने पर ही ज्ञात हो सकेगा, यहाँ पर संक्षेपमें कुछ थोड़ासा ही परिचय कराया जाता है और उसके लिये ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाएँ खास तौरसे उल्लेखनीय हैं:—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनमेंसे पहली कारिकामें श्रीवीरकी महानताका और दूसरीमें उनके शासनकी महानताका उल्लेख है। श्रीवीरकी महानताको इस रूपमें प्रदर्शित किया गया है कि 'वे अतुलित शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए हैं—उन्होंने मोहनीय-कर्मका अभाव कर अनुपम सुख-शान्तिको, ज्ञानावरण-दर्शनावरणकर्मोंका नाशकर अनन्त ज्ञान-दर्शन-रूप शुद्धिके उदयको और अन्तराय-कर्मका विनाशकर अनन्तवीर्यरूप शक्तिके उत्कर्षकी चरम-सीमाको प्राप्त किया है—और साथही ब्रह्मपथके—अहिंसात्मक आत्मविकासपद्धति अथवा मोक्षमार्गके वे नेता बने हैं—उन्होंने अपने आदर्श एवं उपदेशादि-द्वारा दूसरोंको उस सन्मार्गपर लगाया है जो शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिके परमोदयरूपमें आत्म-

विकासका परम सहायक है।' और उनके शासनकी महानताके विषयमें बतलाया है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम) त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा—तत्परता-को लिये हुए हैं, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट—सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खण्डित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसी लिये वह अद्वितीय है।'

अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्त्वको और उसके द्वारा वीरजिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीरजिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोंमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक है और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्त-व्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादोंका सूत्र अथवा संकेतादिकके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आगया है। यह विषय ३९वीं कारिका तक चलता रहा है। श्री-विद्यानन्दाचार्यने इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है—

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम्।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम्॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है, उस सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमें वीर शासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे वीरके तत्त्वज्ञानको समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। वीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसारसमुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी पार उतर जाते हैं और जो सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक है—और यह भी बतलाया है कि वह सर्वान्तवान है सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध और एकत्व-अनेकत्वादि अशेष धर्मोंको अपनाये हुए है, मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे सुव्यवस्थित है और सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला तथा स्वयं निरन्त है—अविनाशी तथा अखण्डनीय है। साथ ही यह भी घोषित किया है कि जो शासन धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य होता है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है; ऐसी हालतमें सर्वथा एकान्तशासन 'सर्वोदयतीर्थ' पद-

के योग्य हो ही नहीं सकता। जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

वीरके इस शासनमें बहुत बड़ी खूबी यह है कि 'इस शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि-हुआ उपपत्ति-चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक समाधानकी दृष्टि-से-वीरशासनका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृंग खण्डित होजाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या-मतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है।' ऐसी इस ग्रन्थके निम्न वाक्यमें स्वामी समन्तभद्रने जोरोंके साथ घोषणा की है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

इस घोषणामें सत्यका कितना अधिक साक्षात्कार और आत्म-विश्वास संनिहित है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं, जरूरत है यह कहने और बतलानेकी कि एक समर्थ आचार्यकी ऐसी प्रबल घोषणाके होते हुए और वीरशासनको 'सर्वोदयतीर्थ'का पद प्राप्त

होते हुए भी आज वे लोग क्या कर रहे हैं जो तीर्थके उपासक कहलाते हैं, पण्डे-पुजारी बने हुए हैं और जिनके हाथों यह तीर्थ पड़ा हुआ है। क्या वे इस तीर्थके सच्चे उपासक हैं? इसकी गुण-गरिमा एवं शक्तिसे भले प्रकार परिचित हैं? और लोकहित-की दृष्टिसे इसे प्रचारमें लाना चाहते हैं? उत्तरमें यही कहना होगा कि 'नहीं'। यदि ऐसा न होता तो आज इसके प्रचार और प्रसारकी दिशामें कोई खास प्रयत्न होता हुआ देखनेमें आता, जो नहीं देखा जा रहा है। खेद है कि ऐसे महान प्रभावक ग्रन्थोंको हिन्दी आदिके विशिष्ट अनुवादादिके साथ प्रचारमें लानेका कोई खास प्रयत्न भी आजतक नहीं होसका है, जो वीर-शासनका सिक्का लोक-हृदयोंपर अङ्कित कर उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेवाले हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ कितना प्रभावशाली और महिमामय है, इसका विशेष अनुभव तो विज्ञपाठक इसके गहरे अध्ययनसे ही कर सकेंगे। यहाँ पर सिर्फ इतना ही बतला देना उचित जान पड़ता है कि श्री-विद्यानन्द आचार्यने युक्त्यनुशासनका जयघोष करते हुए उसे 'प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तु-तत्त्वमबाधितं' (१) विशेषणके द्वारा प्रमाण-नयके आधारपर वस्तुतत्त्वका अबाधित रूपसे निर्णायक बतलाया है। साथ ही टीकाके अन्तिम पद्यमें यह भी बतलाया है कि 'स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्त्वसमूहकी साक्षात् समीक्षाकर इसकी रचना की है।' और श्रीजिनसेनाचार्यने, अपने हरिवंश-पुराणमें 'कृतयुक्त्यनुशासनं' पदके साथ 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते' इस वाक्यकी योजना कर यह घोषित किया है कि समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन ग्रन्थ वीरभगवानके वचन (आगम) के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिकसे युक्त है।' और इससे साफ जाना जाता है कि यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक है, आगमकी कोटिमें स्थित है और इसका निर्माण बीजपदों अथवा

गम्भीरार्थक और बह्वर्थक सूत्रोंके द्वारा हुआ है। सचमुच इस ग्रन्थकी कारिकाएँ प्रायः अनेक गद्यसूत्रोंसे निर्मित हुई जान पड़ती हैं, जो बहुत ही गाम्भीर्य तथा अर्थगौरवको लिये हुए हैं। उदाहरणके लिये ७वीं कारिकाको लीजिये, इसमें निम्न चार सूत्रोंका समावेश है—

१ अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वम्
२ स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम् ।
३ अवृतिमत्वात्समवायवृत्तेः (संसर्गहानिः)।
४ संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ।

इसी तरह दूसरी कारिकाओंका भी हाल है। मैं चाहता था कि कारिकाओंपरसे फलित होनेवाले गद्य सूत्रोंकी एक सूची अलगसे दीजाती; परन्तु उसके तय्यार करनेके योग्य मुझे स्वयं अवकाश नहीं मिल सका और दूसरे एक विद्वान्से जो उसके लिये निवेदन किया गया तो उनसे उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं होसका। और इसलिये वह सूची फिर किसी दूसरे संस्करणके अवसर पर ही दी जा सकेगी।

आशा है ग्रन्थके इस संक्षिप्त परिचय और विषय-सूची परसे पाठक ग्रन्थके गौरव और उसकी उपादेयताको समझकर सविशेष-रूपसे उसके अध्ययन और मननमें प्रवृत्त होंगे।

देहली
ता० २४-६-१९५१

जुगलकिशोर मुख्तार

समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय

इस ग्रन्थके सुप्रसिद्ध कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, जिनका आसन जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों तथा लेखकों और सुपूज्य महात्माओंमें बहुत ऊंचा है। आप जैनधर्म-के मर्मज्ञ थे, वीरशासनके रहस्यको हृदयङ्गम किये हुए थे, जैन-धर्मकी साक्षात् जीती-जागती मूर्ति थे और वीरशासनका अद्वि-तीय प्रतिनिधित्व करते थे; इतना ही नहीं बल्कि आपने अपने समयके सारे दर्शनशास्त्रोंका गहरा अध्ययन कर उनका तल-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और इसीसे आप सब दर्शनों, धर्मों अथवा मतोंका सन्तुलनपूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थिति-रूप सत्यको ग्रहण करनेमें समर्थ हुए थे और उस असत्यका निर्मूलन करनेमें भी प्रवृत्त हुए थे जो सर्वथा एकान्तवादके सूत्रसे संचालित होता था। इसीसे महान आचार्य श्रीविद्यानन्द स्वामी-ने युक्त्यनुशासन-टीकाके अन्तमें आपको 'परीक्षेक्षण'—परीक्षा-नेत्रसे सबको देखनेवाले—लिखा है और अष्टसहस्रीमें आपके वचन-माहात्म्यका बहुत कुछ गौरव ख्यापित करते हुए एक स्थान-पर यह भी लिखा है कि—'स्वामी समन्तभद्रका वह निर्दोष प्रव-चन जयवन्त हो—अपने प्रभावसे लोकहृदयोंको प्रभावित करे—जो नित्यादि एकान्तगर्तोंमें—वस्तु कूटस्थवत् सर्वथा नित्य ही है अथवा क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सर्वथा क्षणिक (अनित्य) ही है, इस प्रकारकी मान्यतारूप एकान्त खड्डोंमें पड़नेके लिये विवश हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर मंगलमय उच्चपद प्राप्त करानेके लिए समर्थ है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रख्यात करनेवाला है, सत्यार्थ है, अलंघ्य है, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुआ है

अथवा प्रेक्षावान्—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा जिसकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने सम्पूर्ण मिथ्याप्रवादको विघटित अथवा तितर बितर कर दिया है।' और दूसरे स्थानपर यह बतलाया है कि—'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये कुनीति और कुप्रवृत्तिरूप—नदियोंको सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोष नीति-स्याद्वादन्यायको लिये हुए होनेके कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थ-समूहके संद्योतक हैं वे योगियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी नेता, शक्ति-सामर्थ्यसे सम्पन्न-विभु और सूर्यके समान देदीप्यमान-तेजस्वी श्रीस्वामी समन्तभद्र कलुषित-आशय-रहित प्राणियोंको—सज्जनों अथवा सुधीजनोंको—विद्या और आनन्द-घनके प्रदान करनेवाले होवें—उनके प्रसादसे (प्रसन्नतापूर्वक उन्हें चित्तमें धारण करनेसे) सबोंके हृदयमें शुद्धज्ञान और आनन्दकी वर्षा होवे'। साथ ही एक तीसरे स्थानपर यह प्रकट किया है कि—'जिनके नय-प्रमाण-मूलक अलंघ्य उपदेशसे—प्रवचनको सुनकर—महा उद्धतमति वे एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं—वे निर्मल तथा विशालकीर्तिसे युक्त अतिप्रसिद्ध योगिराज स्वामी समन्तभद्र सदा जयवन्त रहें—अपने प्रवचनप्रभावसे बराबर लोकहृदयोंको प्रभावित करते रहें।'

इसी तरह विक्रमकी ७वीं शताब्दीके सातिशय विद्वान् श्री-अकलंकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने, अपनी अष्टशती में, समन्तभद्रको 'भव्यैकलोकनयन'—भव्य जीवोंके हृदयान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य—और 'स्याद्वादमार्गका पालक (संरक्षक)' बतलाते हुए

यह भी लिखा है कि—'उन्होंने सम्पूर्ण पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है, और ऐसा लिखकर उन्हें बारबार नमस्कार किया है।

स्वामी समन्तभद्र यद्यपि बहुतसे उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यताको लिये हुए थे—ये चारों शक्तियाँ उनमें खास तौरसे विकासको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण उनका निर्मल यश दूर-दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस समय जितने 'कवि' थे—नये नये सन्दर्भ अथवा नई नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेवाले समर्थ विद्वान् थे, 'गमक' थे—दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्म एवं रहस्यको समझने तथा दूसरोंको समझानेमें प्रवीणबुद्धि थे, विजयकी ओर वचन-प्रवृत्ति रखनेवाले 'वादी' थे, और अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण ऐसे 'वाग्मी' थे, उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी, वह चूड़ामणिके समान सर्वोपरि था और बादको भी बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ (आदिपुराण)

स्वामी समन्तभद्रके इन चारों गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था

और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये कितने ही प्रमाण-वाक्योंको 'स्वामी समन्तभद्र, नामके उस ऐतिहासिक निबन्धमें संकलित किया गया है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी विस्तृत प्रस्तावनाके अनन्तर २५२ पृष्ठोंपर जुदा ही अङ्कित है और अलगसे भी विषयसूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें कुछ थोडासा ही सार[1] दिया जाता है और वह इस प्रकार है:—

(१) भगवज्जिनसेनने, आदिपुराणमें, समन्तभद्रको 'महान् कविवेधा'—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता (ब्रह्मा) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे।

(२) वादिराजसूरिने, यशोधरचरितमें,समन्तभद्रको 'काव्यमाणिक्योंका रोहण' (पर्वत) लिखा है और यह भावना की है कि 'वे हमें सूक्तिरत्नोंके प्रदान करनेवाले होवें'।

(३) वादीभसिंह सूरिने, गद्यचिन्तामणिमें, समन्तभद्रमुनीश्वरका जयघोष करते हुए उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द-विहारभूमि' बतलाया है और लिखा है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्त-रूप पर्वतोंकी चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी मूल्य या गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।'

---

१. इस सारके अधिकांश मूल वाक्योंका परिचय 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ' के अन्तर्गत 'समन्तभद्र-स्मरण' नामक प्रकरणसे भी प्राप्त किया जा सकता है।

(४) वर्द्धमानसूरिने, वराङ्गचरितमें, समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' 'कुवादिविद्या-जय-लब्ध-कीर्ति, और 'सुतर्कशास्त्रामृत-सारसागर' लिखा है और यह प्रार्थना की है कि 'वे मुझ कवित्व-कांक्षी पर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल-मनोरथ करे।'

(५) श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवमें, यह प्रकट किया है कि 'समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी जहां निर्मलसूक्तिरूप किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहां वे लोग खद्योत-जुगनूँकी तरह हँसीके ही पात्र होते हैं जो थोडेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता (नूतन संदर्भकी रचना) करके गर्व करने लगते हैं।'

(६) भट्टारक सकलकीर्तिने, पार्श्वनाथचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी वाणी (ग्रन्थादिरूप भारती) संसारमें सब ओरसे मंगलमय है और सारी जनताका उपकार करनेवाली है उन कवियोंके ईश्वर समन्तभद्रको सादर वन्दन (नमस्कार) करता हूँ।'

(७) ब्रह्मअजितने, हनुमच्चरितमें, समन्तभद्रको 'दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज-खुजलीको मिटानेके लिये अद्वितीय 'महौषधि' बतलाया है।

(८) कवि दामोदरने, चन्द्रप्रभचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी भारती के प्रतापसे—ज्ञानभण्डाररूप मौलिक कृतियोंके अभ्याससे—समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञानका पारगामी हो गया उन कविनायक—नई नई मौलिक रचनाएँ करने वालोंके शिरोमणि—योगी समन्तभद्रकी मैं स्तुति करता हूँ।'

(९) वसुनन्दी आचार्यने, स्तुतिविद्याकी टीकामें, समन्तभद्रको

'सद्बोधरूप'—सम्यग्ज्ञानकी-मूर्ति—और 'वरगुणालय'—उत्तम-गुणोंका आवास—बतलाते हुए यह लिखा है कि 'उनके निर्मल-यशकी कान्तिसे ये तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों प्रदेश कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था।'

(१०) विजयवर्णीने, शृङ्गारचन्द्रिकामें, समन्तभद्रको 'महा-कवीश्वर' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनके द्वारा रचे गये प्रबन्ध-समूहरूप सरोवरमें, जो रसरूप जल तथा अलङ्काररूप कमलोंसे सुशोभित है और जहाँ भावरूप हँस विचरते हैं, सरस्वती-क्रीडा किया करती है'—सरस्वती देवीके क्रीडास्थल (उपाश्रय) होनेसे समन्तभद्रके सभी प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्दोष, पवित्र एवं महती शोभासे सम्पन्न हैं।'

(११) अजितसेनाचार्यने, अलङ्कारचिन्तामणिमें, कई पुरा-तन पद्य ऐसे संकलित किये हैं जिनसे समन्तभद्रके वाद-माहा-त्म्यका कितना ही पता चलता है। एक पद्यसे मालूम होता है कि 'समन्तभद्रकालमें कुवादीजन प्रायः अपनी स्त्रियोंके सामने तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियां अथवा बहादुरीके गीत सुनाते थे—परन्तु जब योगी समन्तभद्रके सामने आते थे तो मधुरभाषी बनजाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं—ऐसे सुन्दर मृदुल वचन ही कहते बनता था।' और यह सब समन्तभद्रके असाधारण-व्यक्तित्वका प्रभाव था।

दूसरे पद्यसे यह जाना जाता है कि 'जब महावादी श्रीसमन्त-भद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादीजन नीचामुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे अर्थात् उन लोगों पर—

प्रतिवादियोंपर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।'

और एक तीसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि—'वादी-समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटिकी—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान्की—जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुसजाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा (बात) ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। वह पद्य, जो कविहस्तमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटकमें भी पाया जाता है, इस प्रकार है—

> **अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा।**
> **वादिनि समन्तभद्रे स्थितिवति का कथाऽन्येषाम्॥**

यह पद्य शकसंवत् १०५० में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी थोड़ेसे पाठभेदके साथ उपलब्ध होता है। वहां 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानपर 'धूर्जटेरपि जिह्वा' और 'सति का कथाऽन्येषां' की जगह 'तव सदसि भूप! कास्थाऽन्येषां' पाठ दिया है, और इसे समन्तभद्रके वादारम्भ-समारम्भ-समयकी उक्तियोंमें शामिल किया है। पद्यके उसरूपमें धूर्जटिके निरुत्तर होनेपर अथवा धूर्जटिकी गुरुतर पराजयका उल्लेख करके राजासे पूछा गया है कि 'धूर्जटि-जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है'?

(१२) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रका

जयघोष करते हुए उनके सूक्तिसमूहको—सुन्दर प्रौढ युक्तियोंको लिये हुए प्रवचनको—वादीरूपी हाथियोंको वशमें करनेके लिये 'वज्रांकुश' बतलाया है और साथ ही यह लिखा है कि 'उनके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार दुर्वादुकोंकी वार्तासे भी विहीन होगई थी—उनकी कोई बात भी नहीं करता था।'

(१३) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०८ में भद्रमूर्ति-समन्तभद्रको जिनशासनका प्रणेता (प्रधान नेता) बतलाते हुए यह भी प्रकट किया है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके कठोरपातसे प्रतिवादीरूप पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई भी प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।'

(१४) तिरुमकूडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रके एक वादका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने विद्वेषियोंको—अनेकान्तशासनसे द्वेष रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंको—पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं ?—सभीके द्वारा भले प्रकार स्तुति किये जानेके योग्य हैं।'

(१५) समन्तभद्रके गमकत्व और वाग्मित्व-जैसे गुणोंका विशेष परिचय उनके देवागमादि ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे भले प्रकार अनुभवमें लाया जा सकता है तथा उन उल्लेख-वाक्योंपरसे भी कुछ जाना जा सकता है जो समन्तभद्र-वाणीका कीर्तन अथवा उसका महत्त्व ख्यापन करनेके लिये लिखे गये हैं। ऐसे उल्लेख-वाक्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत पाये जाते हैं। कवि नागराजका 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र' तो इसी विषयको लिये हुए है और वह 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' में वीरसेवामन्दिरसे सानुवाद प्रकाशित हो चुका है। यहां दो तीन उल्लेखोंका और

सूचन किया जाता है, जिससे समन्तभद्रकी गमकत्वादि-शक्तियों और उनके वचनमाहात्म्यका और भी कुछ पता चल सके—

(क) श्रीवादिराजसूरिने, न्यायविनिश्चयालङ्कारमें, लिखा है कि 'सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारण जिसका तत्त्व लोकमें दुर्बोध हो रहा है—ठीक समझमें नहीं आता—वह हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवादि-पदार्थमाला—श्रीसमन्तभद्रके वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपकोंके द्वारा हमें सब ओरसे चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे--अर्थात् स्वामी समन्तभद्रका प्रवचन उस महाजाज्वल्यमान रत्नसमूहके समान है जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसारमें फैले हुए निरपेक्ष-नयरूपी महामिथ्यान्धकारको दूर करके वस्तुतत्त्वको स्पष्ट करनेमें समर्थ है, उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।'

(ख) श्रीवीरनन्दी आचार्यने, चन्द्रप्रभचरित्रमें, लिखा है कि 'गुणोंसे—सूतके धागोंसे—गूँथी हुई निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त और उत्तम पुरुषोंके कण्ठका विभूषण बनी हुई हारयष्टिको—श्रेष्ठ मोतियोंकी मालाको—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को पा लेना—उसे खूब समझकर हृदयङ्गम कर लेना है, जो कि सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तान्त, चरित्र, आचार, विधान तथा छन्द) रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने जिसे अपने कण्ठका आभूषण बनाया है—वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करनेमें अपना गौरव मानते और अहोभाग्य समझते रहे हैं। अर्थात् समन्तभद्रकी वाणी परम दुर्लभ है—उनके सातिशय वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।'

(ग) श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य, सिद्धान्तसारसंग्रहमें, यह प्रकट करते हैं कि 'श्रीसमन्तभद्रदेवका निर्दोष प्रवचन प्राणियोंके लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्वका पाना—अर्थात् अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको जिस प्रकार मनुष्यभवका मिलना दुर्लभ होता है उसी प्रकार समन्तभद्रदेवके प्रवचनका लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।'

ऊपरके इन सब उल्लेखोंपरसे समन्तभद्रकी कवित्वादि शक्तियोंके साथ उनकी वादशक्तिका जो परिचय प्राप्त होता है उससे सहज ही यह समझमें आ जाता है कि वह कितनी असाधारण कोटिकी तथा अप्रतिहत-वीर्य थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, जो अभी तक भी अक्षुण्णरूपसे चला जाता है—जो भी निष्पक्ष विद्वान आपके वादों अथवा तर्कोंसे परिचित होता है वह उनके सामने नत-मस्तक हो जाता है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुन्दुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वाद-प्रीति, लोगोंके अज्ञानभावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभभावना और जैन सिद्धान्तोंके महत्वको विद्वानोंके हृदय-पटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीला-स्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें सन्तोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञानभावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों

(खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इसलिये उन्हें जहां कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता चलता था तो वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका[१] बजाकर विद्वानोंको स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथा नियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समन्तभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आ जाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। यदि कभी कोई भी मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था।

इस तरह, समन्तभद्र भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशों में, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंह के समान क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते

---

१ उन दिनों—समन्तभद्रके समयमें—फाहियान (ई० ४००) और ह्वेनत्संग (ई० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था तो वह वाद-घोषणाके रूपमें उस डंकेको बजाता था।

—हिस्ट्री आफ् कनडीज़ लिटरेचर

हुए 'करहाटक' नगर में भी पहुँचे थे, जो उस समय बहुतसे भटों-से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजापर अपने वाद-प्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवणबेलगोल-के शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्मपरिचयसे यह मालूम होता है कि करहाटक पहुँचने से पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरों-में वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्रनगर, मालव (मालवा) सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर प्रायः किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया था।[1]

---

१ समन्तभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर अपनी 'स्टडीज़ इन साउथ इन्डियन जैनिज़्म' नामकी पुस्तक में लिखते हैं—

'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहां कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे

यहाँ तकके इस सब परिचय पर से स्वामी समन्तभद्रके असाधारण गुणों, उनके अनुपम प्रभाव और लोकहितकी भावनाको लेकर धर्मप्रचारके लिये उनके सफल देशाटनादिका कितना ही हाल तो मालूम हो गया; परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समन्तभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसके कारण वे सदा इस बातके लिये भाग्यशाली रहे हैं कि विद्वान लोग उनकी वाद-घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था। वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे चाहे-अनचाहे विरोधकी आग भड़कती है, लोग अपनी मान-रक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते; फिर भी समन्तभद्रके साथमें यह सब प्रायः कुछ भी नहीं होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है, जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और मुझे समन्तभद्रके साहित्यादिक-परसे उसका विशेष अनुभव हुआ है उसके आधारपर मुझे इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि समन्तभद्रकी इस सारी सफलताका रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्र की निर्मलता और उनकी वाणी के महत्व में संनिहित है,

---

सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा (He met with no opposition from other sects wherever he went)।

को, निष्पक्षदृष्टिसे, स्व-पर-सिद्धान्तोंपर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे—मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्गको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना 'एकान्त' है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है—सर्वथा सत्-असत्-एक अनेक-नित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्त-तत्त्व ही उसका विषय[1] है।

अपनी घोषणाके अनुसार, समन्तभद्र प्रत्येक विषयके गुण दोषोंको स्याद्वाद-न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे, वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्तपक्षोंके माननेसे क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वाद न्यायको स्वीकर करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्व-का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है[2]। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था। वे एक मार्ग भूले हुए को मार्ग दिखानेकी तरह प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध

---

१ सर्वथासदसदेकानेक-नित्यादि-सकलैकान्त-प्रत्यनीकाऽनेकान्त-तत्त्व-विषयः स्याद्वादः। —देवागमवृत्तिः

२ इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समन्तभद्रका 'देवागम' ग्रन्थ देखना चाहिये, जिसे 'आप्तमीमांसा' भी कहते हैं।

ये सब घटनाएँ बड़ी ही हृदयद्रावक हैं, उनके प्रदर्शन और विवेचनका इस संक्षिप्त परिचयमें अवसर नहीं है और इसलिये उन्हें 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' नामक उस निबन्धसे जानना चाहिये जो 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासमें ४२ पृष्ठों पर इन पंक्तियोंके लेखक-द्वारा लिखा गया है।

समन्तभद्रकी सफलताका दूसरा समुच्चय उल्लेख वेलूरतालुके-के कनड़ी शिलालेख नं० १७ (E. C. V) में पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक संवत् १०५९ दिया है। इस शिलालेखमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्र स्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धि-प्राप्तरुं श्रुतकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् तत्...(ती) र्थ्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर...।"

वीरजिनेन्द्रके तीर्थकी अपने कलियुगी समयमें हज़ारगुणी वृद्धि करनेमें समर्थ होना यह कोई साधारण बात नहीं है। इससे समन्तभद्रकी असाधारण सफलता और उसके लिये उनकी अद्वितीय योग्यता, भारी विद्वत्ता एवं बेजोड क्षमताका पता चलता है। साथ ही, उनका महान् व्यक्तित्व मूर्तिमान होकर सामने आजाता है। यही वजह है कि अकलंकदेव-जैसे महान् प्रभावक आचार्यने 'तीर्थं प्राभावि काले कलौ'-जैसे शब्दों-द्वारा कलिकालमें समन्तभद्रकी इस तीर्थ-प्रभावनाका उल्लेख बड़े

गौरवके साथ किया है; यही कारण है कि श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके वचनोंको वीरभगवानके वचनोंके समान प्रकाशमान (प्रभावादिसे युक्त) बतला रहे हैं। और शिवकोटि आचार्यने रत्नमालामें 'जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः' पदके द्वारा समंतभद्रको भगवान महावीरके ऊँचे उठते हुए शासन-समुद्रको बढ़ाने वाला चन्द्रमा लिखा है अर्थात् यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रके उदयका निमित्त पाकर वीरभगवानका तीर्थसमुद्र खूब वृद्धिको प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवसे भी पूर्ववर्ती महान् विद्वानाचार्य श्रीसिद्धसेनने, 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी प्रथम द्वात्रिंशिकामें, 'अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः'—जैसे वाक्यके द्वारा समन्तभद्रका 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम' (सर्वज्ञ आप्तकी परीक्षा करनेमें समर्थ पुरुष) के रूपमें उल्लेख करते हुए और उन्हें बड़े प्रसन्नचित्तसे वीरभगवानमें स्थित हुआ बतलाते हुए, अगले एक पद्यमें वीरके उस यशकी मात्राका बड़े ही गौरवके साथ उल्लेख किया है जो उन 'अलब्धनिष्ठ' और 'प्रसमिद्धचेता' विशेषणोंके पात्र समन्तभद्र जैसे प्रशिष्योंके द्वारा प्रथित किया गया है।

अब मैं, संक्षेपमें ही इतना और बतला देना चाहता हूँ कि

---

१. 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।'—हरिवंशपुराण

२. अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः।
न तावदप्येकसमूहसंहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥ १५ ॥

सिद्धसेन-द्वारा समन्तभद्रके इस उल्लेखका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये देखो, 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावनामें प्रकाशित 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामका वृहत् निबन्ध पृ० १५४।

स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रिय-वंशोद्भव राजपुत्र थे, उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे[1]। वे जहां क्षत्रियोचित तेजसे प्रदीप्त थे वहाँ आत्महित-साधना और लोकहितकी भावना-से भी ओत-प्रोत थे, और इसलिये घर-गृहस्थीमें अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। वे राज्य-वैभवके मोहमें न फँस-कर घरसे निकल गये थे, और कांची (दक्षिणकाशी) में जाकर 'नग्नाटक' (नग्न) दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने एक परिचयपद्यमें अपनेको काँचीका 'नग्नाटक' प्रकट किया है और साथ ही 'निर्ग्रन्थजैनवादी' भी लिखा है—भले ही कुछ परिस्थि-तियोंके वश वे कतिपय स्थानोंपर दो एक दूसरे साधु-वेष भी धारण करनेके लिये बाध्य हुए हैं, जिनका पद्यमें उल्लेख है, परन्तु वे सब अस्थायी थे और उनसे उनके मूलरूपमें, कर्दमाक्त-मणिके समान, कोई अन्तर नहीं पड़ा था—वे अपनी श्रद्धा और संयम-भावनामें बराबर अडोल रहे हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः[2] दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

---

१ 'जैसा कि उनकी 'आप्तमीमाँसा' कृतिकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्न पुष्पिका-वाक्यसे जाना जाता है, जो श्रवणबेल्गोलके श्रीदौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

'इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्र-मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।'

२ यह पद अग्रोल्लेखित जीर्णगुटकेके अनुसार 'शाकभक्षी' है।

यह पद्यभी 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता' नाम-के परिचय-पद्यकी तरह किसी राजसभामें ही अपना परिचय देते हुए कहा गया है और इसमें भी वादके लिये विद्वानोंको ललकारा गया है और कहा गया है कि 'हे राजन्! मैं तो वास्तवमें जैननिर्ग्रन्थ वादी हूँ, जिस किसीकी भी मुझसे वाद करनेकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।'

पहलेसे समन्तभद्रके उक्त दो ही पद्य आत्मपरिचयको लिये हुए मिल रहे थे; परन्तु कुछ समय हुआ, 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्राचीन प्रतियोंको खोजते हुए, देहली-पंचायतीमन्दिरके एक अति जीर्ण-शीर्ण गुटके परसे मुझे एक तीसरा पद्य भी उपलब्ध हुआ है, जो स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके अनन्तर संग्रहीत है और जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित (गमक), ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्) ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

> आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
> दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं।
> राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया—
> माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

यह पद्य बड़े ही महत्वका है। इसमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके ग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख

मिलता है। चौथा 'पण्डित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्य की तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः 'गमक' (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। अतः यहां गमकत्व-जैसे गुणविशेपका ही वह द्योतक है। शेप सब विशेपण इस पद्यके द्वारा प्रायः नये ही प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिप, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विपयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अङ्गहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विपवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमंत्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रन्थोंमें **'स्वमन्त्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः'**-जैसे विशेषणोंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्र-विशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९वीं शताब्दीके विद्वान् उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थमें 'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्' इत्यादि पद्य-(२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्गवैद्यक-विषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेपण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण **'आज्ञासिद्ध'** और **'सिद्धसारस्वत'** तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आजाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते

हुए कहते हैं कि—हे राजन्! मैं इस समुद्र-वलया पृथ्वी पर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय, मैं 'सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है। इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य संनिहित है जो स्थान स्थान पर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी और जिसका कुछ विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी, जिसकी अनेकान्तदृष्टि-द्वारा अनन्य-आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय-विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित किये हुए है।

समन्तभद्र, श्रद्धा और गुणज्ञता दोनोंको साथमें लिये हुए, बहुत बड़े अर्हद्भक्त थे, अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियां रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी और उन्होंने स्तुति-विद्यामें **'सुस्तुत्यां व्यसनं'** वाक्यके द्वारा अपनेको वैसी स्तुतियां रचनेका व्यसन बतलाया है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे उनकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'स्तुतिविद्या' को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन ये तीन तो आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। उनमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती। समन्तभद्रने अपने स्तुतिग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार और विकास किया है, और इसी लिये वे 'स्तुतिकार'

कहलाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका भी गौरव प्राप्त था[१]। अपनी इस अर्हद्भक्ति और लोकहितसाधनकी उत्कट भावनाओंके कारण वे आगेको इस भारतवर्षमें 'तीर्थङ्कर' होनेवाले हैं, ऐसे भी कितने ही उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं[२]। साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो उनके 'पदर्द्धिक' अथवा 'चारणऋद्धि' से सम्पन्न होनेके सूचक हैं[३]।

श्रीसमन्तभद्र 'स्वामी' पदसे खास तौरपर अभिभूषित थे और यह पद उनके नामका एक अंग ही बन गया था। इसीसे विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अनेक स्थानोंपर केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। निःसन्देह यह पद उस समयकी दृष्टिसे[४] आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, योगियोंके स्वामी थे, ऋषि-मुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोक-हितैषियोंके स्वामी थे। आपने अपने अवतारसे इस भारतभूमि-को विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीमें पवित्र किया है। आपके अवतारसे भारतका गौरव बढ़ा है और इसलिये श्री शुभचन्द्रा-चार्यने, पाण्डवपुराणमें, आपको जो 'भारतभूषण' लिखा है वह सब तरह यथार्थ ही है।

देहली
ता० ४-७-१९५१

जुगलकिशोर मुख्तार

१-३ देखो, स्वामी समन्तभद्र पृ० ९६, ९२, ९१ (फुटनोट)

४ आजकल तो 'कवि' और 'पण्डित' पदोंकी तरह 'स्वामी' पदका भी दुरुपयोग होने लगा है।

विषय-सूची

होनेसे दोनोंके ही द्वारा उस तत्त्वकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती। २२

२४ निःसाधना सिद्धिका आश्रय लेकर 'विज्ञानमात्र' अथवा 'संवेदनाद्वैत' तत्त्वको योगिगम्य कहनेसे कोई काम नहीं चलता, उससे परवादियोंको उस तत्त्वका प्रत्यय (बोध) नहीं कराया जा सकता। २३

२५ जो (विज्ञानाद्वैत) तत्त्व सकल-विकल्पोंसे शून्य है वह 'स्वसंवेद्य' नहीं होता और जो सम्पूर्ण कथन-प्रकारोंकी आश्रयतासे रहित है वह 'निगद्य' नहीं होता। ऐसा कथन अनेकान्ता-त्मक स्याद्वादकी उक्तिसे बाह्य है और सुषुप्ति-की अवस्थाको प्राप्त है। २४

२६ जो लोग गूंगेके स्वसंवेदनादिकी तरह उक्त तत्त्वको आत्मवेद्य, अनभिलाप्य, अनंगसंज्ञ और परके द्वारा अवेद्य बतलाते हैं वे अपने अवाच्य तत्त्वको स्वयं वाच्य बना रहे हैं। २५

२७ 'शास्ता (बुद्ध) ने अनवद्य-वचनोंकी शिक्षा दी परन्तु उन वचनोंसे उनके वे शिष्य शिक्षित नहीं हुए' यह कथन (बौद्धोंका) दूसरा दुर्गतम अन्धकार है। वीर-जिन-जैसे शास्ताके बिना निःश्रेयसका न बन सकना। २६

२८ संवेदनाद्वैतकी प्रत्यक्षा तथा लैङ्गिकी आदि कोई भी गति न होनेसे उसकी प्रतिपत्ति नहीं बनती। .. २७

संवृतिसे संवेदनाद्वैतकी प्रतिपत्ति माननेमें बाधा। एकान्त सब परमार्थ शून्य है। .. २७

२९ 'गुरुके द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान हुई निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमें समर्थ है' इस बौद्ध-मान्यतामें दोषापत्ति। २८

हैं और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्दके द्वारा नेतृत्वको प्राप्त हैं। ६०

५६ 'स्यात्' शब्द भी नयोंके आदेशसे गौण और मुख्य-स्वभावोंके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तोंको लिये रहता है, अन्यथा नहीं; क्योंकि वह यथोपाधि—विशेषणानुसार—विशेषका—धर्मान्तरका—द्योतक होता है। .. ६१

५७ तत्त्व तो अनेकान्तात्मक है, अनेकान्त भी अशेषरूपको लिये हुए अनेकान्तरूप है और वह दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक द्रव्यरूप भवार्थवान् होनेसे और दूसरे पर्यायरूप व्यवहारवान् होनेसे। ६२

५८ सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत (परस्परनिरपेक्ष) द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है। ६२

५९ यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाय तो यह सर्वथा द्वयात्मकता एकत्वके साथ विरुद्ध पड़ती है। ६२

६० वीरजिनके शासनमें ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूपसे भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न माने गये हैं और इसलिये (सर्वथा) विरुद्ध नहीं हैं। ६३

६१ प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं, वही वीरशासनमें मान्य है। ६४

६२ अर्थका रूप प्रतिक्षण स्थिति, उदय (उत्पाद) और व्ययरूप तत्त्वव्यवस्थाको लिये हुए है; क्योंकि वह सत्रूप है ६४

६३ वीर-शासनमें जो वस्तु एकरूप है वह अनेकरूपताका और जो अनेकरूप है वह एकरूपताका त्याग नहीं करती, तभी वस्तुरूपसे व्यवस्थित होती है, अन्यथा नहीं।

होता; क्योंकि उन द्रव्यादिकोंके साथ उसकी वृत्ति मानी नहीं गई। ६९

७० यदि सामान्यकी द्रव्यादि वस्तुके साथ वृत्ति मानी भी जाय तो वह वृत्ति भी न तो कृत्स्न (निरंश) विकल्परूप मानकर बनती है और न अंशविकल्परूप। ७३

७१ जो एक अनन्त व्यक्तियोंके समाश्रयरूप है उस एक (सत्तामहासामान्य) के ग्राहक प्रमाणका अभाव है। ७३

७२ नाना सत्पदार्थोंका एक आत्मा ही जिसका समाश्रय है ऐसा सामान्य यदि (सामान्यवादियोंके द्वारा) माना जाय और उसे ही प्रमाणका विषय बतलाया जाय तो ऐसी मान्यतावाले सामान्यवादियोंसे यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे अन्य है या अनन्य ? दोनों ही उत्तरोंमें दोषापत्ति। ७४

७३ यदि सामान्यको अवस्तु ही इष्ट किया जाय और उसे विकल्पोंसे शून्य माना जाय तो उस अवस्तुभूत सामान्यके अप्रमेय होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति कहां होती है ? अतः उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। ७५

७४ यदि साध्यको व्यावृत्तिहीन अन्वयसे सिद्ध माना जाय तो वह सिद्ध नहीं होता। यदि अन्वयहीन व्यावृत्तिसे साध्य जो सामान्य उसको सिद्ध माना जाय तो वह भी नहीं बनता। ७६

७५ यदि अन्वय और व्यावृत्ति दोनोंसे हीन जो अद्वितयरूप हेतु है उससे सन्मात्रका प्रतिभासन होनेसे सत्ताद्वैतरूप सामान्यकी सिद्धि होती है, ऐसा कहा जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं है। .. ७७

७६ यदि अद्वितयको संवित्तिमात्रके रूपमें मानकर असाधन-व्यावृत्तिसे साधनको और असाध्य-व्यावृत्तिसे साध्यको

स्याद्वाद-शासनमें अभेदबुद्धिसे अविशिष्टता और भेद-बुद्धिसे विशिष्टताकी प्राप्ति होती है। .. ८१

८३ वीरका अनेकान्त-शासन ही 'सर्वोदयतीर्थ' है, वह गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको लिये हुए सर्वान्तवान् (अशेष-धर्मोका आश्रय), सर्व आपदाओंका अन्त करनेवाला और स्वयं निरन्त है। ८२

८४ जो शासन-वाक्य धर्मोमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रति-पादन नहीं करता वह सब धर्मोसे शून्य होता है। ८३

८५ वीरके शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला भी यदि समदृष्टि हुआ उपपत्तिचक्षुसे वीरके द्वारा प्रति-पादित इष्टतत्त्वका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृङ्ग खण्डित हो जाता है और वह अभद्र होता हुआ भी सब ओरसे भद्र एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। ८४

८६ वीरके प्रति राग और दूसरोंके प्रति द्वेष इस स्तोत्र-की उत्पत्तिका कोई हेतु नहीं। यह उन लोगोंके उद्देश्यसे, वीरजिनकी गुणकथाके साथ, निर्मित हुआ है जो न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और गुण-दोषको जाननेकी जिनकी इच्छा है। उनके लिए यह ग्रन्थ 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' है। .. ८४

८७ शक्तिके अनुरूप स्तुत वीरजिनेन्द्रसे अपने प्रतिनिधि-रहित मार्गमें और भी अधिक भक्तिको चरितार्थ करनेकी प्रार्थना अथवा भावनाके साथ ग्रन्थकी समाप्ति। ८५

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत

(श्रीवीरजिन-गुणकथा-सत्कृत)

हिताऽन्वेषणोपायभूत

युक्त्यनुशासन

हिन्दी अनुवादादि-सहित

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुति-गोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ॥१॥

'हे वीरजिन !—इस युगके अन्तिम तीर्थप्रवर्त्तक परमदेव !—आप दोषों और दोषाऽऽशयोंके पाश-बन्धनसे विमुक्त हुए हैं—आपने अज्ञान-अदर्शन-राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारों अर्थात् विभावपरिणामरूप भावकर्मों और इन दोषात्मक भावकर्मोंके संस्कारक कारणों अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-अन्तरायरूप द्रव्यकर्मोंके जालको छिन्न-भिन्न कर

स्वतन्त्रता प्राप्त की है—; आप निश्चितरूपसे ऋद्धमान (प्रवृद्धप्रमाण) हैं–आपका तत्त्वज्ञानरूप प्रमाण (केवलज्ञान) स्याद्वाद-नयसे संस्कृत होनेके कारण प्रवृद्ध है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट एवं अबाध्य है–और (इस प्रवृद्धप्रमाणके कारण) आप महती कीर्तिसे भूमण्डलपर वर्द्धमान हैं—जीवादितत्त्वार्थोंका कीर्तन (सम्यग्दर्शन) करनेवाली युक्ति-शास्त्राऽविरोधिनी दिव्यवाणीसे साक्षात् समवसरणकी भूमिपर तथा परम्परासे परमागमकी विषयभूत सारी पृथ्वीपर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, निकटवर्ती-दूरवर्ती, तत्कालीन और उत्तरकालीन सभी पर-अपर परीक्षकजनोंके मनोंको संशयादिके निरसनद्वारा पुष्ट एवं व्याप्त करते हुए आप वृद्धि-व्याप्तिको प्राप्त हुए हैं—सदा सर्वत्र और सबोंके लिये 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्' के रूपमें अवस्थित हैं, यह बात परीक्षा-द्वारा सिद्ध हो चुकी है। (अतः) अब—परीक्षाऽवसानके समय अर्थात् (आप्तमीमांसाके द्वारा) युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्त्व-हेतुसे परीक्षा करके यह निर्णय कर चुकनेपर कि आप विशीर्ण-दोषाशय-पाशबन्धत्वादि तीन असाधारण गुणों (कर्मभेत्तृत्व, सर्वज्ञत्व, परमहितोपदेशकत्व) से विशिष्ट हैं—आपको स्तुतिगोचर मानकर—स्तुतिका विषयभूत आप्तपुरुष स्वीकार करके—हम–परीक्षाप्रधानी मुमुक्षुजन–आपको अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं—आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त होना चाहते हैं।'

> याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या
> लोके स्तुतिर्भूरि-गुणोदधेस्ते ।
> अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो
> वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

'यथार्थताका—यथावस्थित स्वभावका—उल्लंघन करके गुणोंके—चौरासी लाख गुणोंमेंसे किसीके भी—उदय-उत्कर्षकी जो आख्या–कथनी है—बढ़ा चढ़ाकर कहनेकी पद्धति है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। परन्तु हे वीरजिन ! आप भूरिगुणोदधि हैं—अनन्तगुणोंके समुद्र हैं—और उस गुणसमुद्रके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंशका भी हम (पूरे-

तौरसे) कथन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं—बढ़ा-चढ़ा कर कहनेकी तो बात ही दूर है। अतः वह स्तुति तो हमसे बन नहीं सकती; तब हम छद्मस्थजन (कोई भी उपमान न देखते हुए) किस तरहसे आपकी स्तुति करके स्तोता बनें, यह कुछ समझमें नहीं आता !!'

तथाऽपि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

'(यद्यपि हम छद्मस्थजन आपके छोटे-से-छोटे गुणका भी पूरा वर्णन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं) तो भी मैं भक्तिके वश धृष्टता धारण करके शक्तिके अनुरूप वाक्योंको लिये हुए आपका स्तोता बना हूँ—आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। किसी वस्तुके इष्ट होनेपर क्या पुरुषार्थीजन अपनी शक्तिके अनुसार क्रियाओं-प्रयत्नों-द्वारा उसकी प्राप्तिके लिये उत्साहित एवं प्रवृत्त नहीं होते ?—होते ही हैं। तदनुसार ही मेरी यह प्रवृत्ति है—मुझे आपकी स्तुति इष्ट है।'

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्म-पथस्य नेता
महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

'हे वीरजिन ! आप (अपनी साधनाद्वारा) शुद्धि और शक्तिके उदय-उत्कर्षकी उस काष्ठाको—परमावस्था अथवा चरमसीमाको—प्राप्त हुए हैं जो उपमा-रहित है और शान्ति-सुख-स्वरूप है—आपमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप कर्ममलके क्षयसे अनुपमेय निर्मल ज्ञान-दर्शनका तथा अन्तरायकर्मके अभावसे अनन्तवीर्यका आविर्भाव हुआ है, और यह

सब आत्म-विकास मोहनीयकर्मके पूर्णतः विनाश-पूर्वक होनेसे उस विनाशसे उत्पन्न होनेवाले परम शान्तिमय सुखको साथमें लिये हुए है। (इसीसे) आप ब्रह्मपथके—आत्मविकास-पद्धति अथवा मोक्ष-मार्गके—नेता हैं—अपने आदर्श एवं उपदेशादि-द्वारा दूसरोंको उस आत्मविकासके मार्गपर लगानेवाले हैं—और महान् हैं—पूज्य परमात्मा हैं—, इतना कहने अथवा दूसरोंको सिद्ध करके बतलानेके लिये हम समर्थ हैं।'

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-
प्रभुत्व-शक्तेरपवाद-हेतुः ॥५॥

'(इस तरह आपके महान् होते हुए, हे वीरजिन !) आपके शासन-में—अनेकान्तात्मक मतमें—(निःश्रेयस और अभ्युदयरूप लक्ष्मीकी प्राप्ति-का कारण होनेसे) एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका—सभी अर्थ-क्रियार्थि-जनोंके द्वारा अवश्य आश्रयनीयरूप सम्पत्तिका—स्वामी होनेकी जो शक्ति है—आगमान्विता युक्तिके रूपमें सामर्थ्य है—उसके अपवादका—एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकनेका—कारण (वर्तमानमें) एकतो कलि-काल है—जो कि साधारण बाह्य कारण है, दूसरा प्रवक्ताका वचनाऽ-नय है—आचार्यादि प्रवक्तृवर्गका प्रायः अप्रशस्त-निरपेक्ष नयके साथ वचनव्यवहार है अर्थात् सम्यक्नय-विवक्षाको लिये हुए उपदेशका न देना है—जो कि असाधारण बाह्य कारण है, और तीसरा श्रोताका—श्राव-कादि-श्रोतृवर्गका—कलुषित आशय है—दर्शनमोहसे प्रायः आक्रान्त चित्त है—जोकि अन्तरंग कारण है।'

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।

अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै—
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

'हे वीरजिन ! आपका मत—अनेकान्तात्मक शासन—दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है—पूर्णतः अथवा देशतः प्राणिहिंसासे निवृत्ति तथा परोपकारमें प्रवृत्तिरूप वह दयाव्रत जिसमें असत्यादिसे विरक्तिरूप सत्यव्रतादिका अन्तर्भाव (समावेश) है; मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयोंमें राग-द्वेषकी निवृत्तिरूप संयम; बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंका स्वेच्छासे त्यजन अथवा दान; और धर्म तथा शुक्ल-ध्यानका अनुष्ठान; ये चारों उसके प्रधान लक्ष्य हैं। (साथ ही) नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा (असम्भवद्बाधकविषय-स्वरूप) सम्यक् वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करनेवाला है और (नेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंसे अबाध्य है—दर्शनमोहोदयके वशीभूत हुए सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा प्रकल्पित वादोंमेंसे कोई भी वाद (स्वभावसे मिथ्यावाद होनेके कारण) उसके (सम्यग्वादात्मक) विषयको बाधित अथवा दूषित करनेके लिये समर्थ नहीं है—(यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह) अद्वितीय है—अकेला ही सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है।'

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं
तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्ख-पुष्पम्।
अवृत्तिमत्वात्समवाय-वृत्तेः
संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ॥७॥

(हे वीरभगवन् !) आपका अर्थतत्त्व—आपके द्वारा मान्य-प्रतिपादित अथवा आपके शासनमें वर्णित जीवादि-वस्तुतत्त्व—अभेद-भेदा-

त्मक है—परस्परतन्त्रता (अपेक्षा, दृष्टिविशेष) को लिये हुए अभेद और भेद दोनों रूप है अर्थात् कथञ्चित् द्रव्य-पर्यायरूप, कथञ्चित् सामान्य-विशेषरूप, कथञ्चित् एकाऽनेकरूप और कथञ्चित् नित्याऽनित्यरूप है; न सर्वथा अभेदरूप (द्रव्य, सामान्य, एक अथवा नित्यरूप) है, न सर्वथा भेदरूप (पर्याय, विशेष, अनेक अथवा अनित्यरूप) है और न सर्वथा उभयरूप (परस्परनिरपेक्ष द्रव्य-पर्यायमात्र, सामान्य-विशेषमात्र, एक-अनेकमात्र अथवा नित्य-अनित्यमात्र) है। **अभेदात्मकतत्त्व** (द्रव्यादिक) **और भेदात्मकतत्त्व** (पर्यायादिक) **दोनोंको स्वतन्त्र**—पारस्परिक तन्त्रतासे रहित सर्वथा निरपेक्ष—**स्वीकार करनेपर प्रत्येक**—द्रव्य, पर्याय तथा उभय; सामान्य, विशेष तथा उभय; एक, अनेक तथा उभय; और नित्य, अनित्य तथा उभय—**आकाशके पुष्प-समान** (अवस्तु) **हो जाता है**—प्रतीयमान (प्रतीतिका विषय) न हो सकनेसे किसीका भी तब अस्तित्व नहीं बनता।'

(इसपर यदि यह कहा जाय कि स्वतन्त्र एक द्रव्य प्रत्यक्षादिरूपसे उपलभ्यमान न होनेके कारण क्षणिकपर्यायकी तरह आकाश-कुसुमके समान अवस्तु है सो तो ठीक; परन्तु उभय तो द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-सामावायरूप सत् तत्त्व है और प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-अन्योन्याभाव-अत्यंताभावरूप असत् तत्त्व है, वह उनके स्वतन्त्र रहते हुए भी कैसे आकाशके पुष्प-समान अवस्तु है ? वह तो द्रव्यादि-ज्ञानविशेषका विषय सर्वजनोंमें सुप्रसिद्ध है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणद्रव्य (अवयव)-कार्यद्रव्य (अवयवी) की, गुण-गुणीकी, कर्म-कर्मवान्की समवाय-समवायवान्की एक दूसरेसे स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें एक वार भी प्रतीति नहीं होती। वस्तुतत्त्व इससे विलक्षण-जात्यन्तर अथवा विजातीय-है और वह सदा सबोंको अवयव-अवयवीरूप, गुण-गुणीरूप, कर्म-कर्मवान्रूप तथा सामान्य-विशेषरूप प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे निर्बाध प्रतिभासित होता है।)

(यदि वैशेषिक-मतानुसार पदार्थोंको—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य,

विशेष और समवाय इन छहोंको—सर्वथा स्वतन्त्र मानकर यह कहा जाय कि समवाय-वृत्तिसे शेष सब पदार्थ वृत्तिमान् हैं अर्थात् समवाय नामके स्वतन्त्र पदार्थ-द्वारा वे सब परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त हैं, तो) **समवायवृत्तिके अवृत्तिमती होनेसे**—समवाय नामके स्वतन्त्र पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण[1] उसे स्वयं असम्बन्धवान् माननेसे—**संसर्गकी हानि होती है**—किसी भी पदार्थका सम्पर्क

[1] समवाय पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—एक संयोग-सम्बन्ध, दूसरा समवाय-सम्बन्ध और तीसरा विशेषण–विशेष्यभाव-सम्बन्ध। पहला संयोग-सम्बन्ध इसलिये नहीं बनता, क्योंकि उसकी वृत्ति द्रव्यमें मानी गई है—द्रव्योंके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंमें वह घटित नहीं होती—और समवाय द्रव्य है नहीं, इसलिये संयोगसम्बन्धके साथ उसका योग नहीं भिड़ता। यदि अद्रव्यरूप समवायमें संयोगकी वृत्ति मानी जायगी तो वह गुण नहीं बन सकेगा और वैशेषिक मान्यताके विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि वैशेषिकमतमें संयोगको भी एक गुण माना है और उसको द्रव्याश्रित बतलाया है। दूसरा समवाय-सम्बन्ध इसलिये नहीं बन सकेगा, क्योंकि वह समवायान्तरकी अपेक्षा रक्खेगा और एकके अतिरिक्त दूसरा समवाय पदार्थ वैशेषिकोंने माना नहीं है। और तीसरा विशेषण-विशेष्य-भाव–सम्बन्ध इसलिये घटित नहीं होता, क्योंकि वह स्वतन्त्र पदार्थोंका विषय ही नहीं है। यदि उसे स्वतन्त्र पदार्थोंका विषय माना जायगा तो अतिप्रसंग दोष आएगा और तब सह्याचल (पश्चिमीघाटका एक भाग) तथा विन्ध्याचल जैसे स्वतन्त्र पर्वतोंमें भी विशेषण-विशेष्य–भावका सम्बन्ध घटित करना होगा, जो नहीं हो सकता। विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्धकी यदि पदार्थान्तरके रूपमें संभावना की जाय तो वह सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा बिना नहीं बनता और दूसरे सम्बन्धकी अपेक्षा लेनेपर अनवस्था दोष आता है। इस तरह तीनोंमेंसे कोई भी सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता।

अथवा सम्बन्ध एक दूसरेके साथ नहीं बनता। समवाय-समवायिकी ह
असंस्पृष्ट पदार्थोंके समवायवृत्तिसे संसर्गकी कल्पना न करके, पदार्थ
अन्योऽन्य-संसर्ग (एक दूसरेके साथ सम्बन्ध) को स्वभावसिद्ध मानने
स्याद्वाद शासनका ही आश्रय होजाता है; क्योंकि स्वभावसे ही द्रव्य
सभी गुण-कर्म-सामान्य-विशेषोंके साथ कथञ्चित् तादात्म्यका अनुभव क
वाले ज्ञानविशेषके वशसे यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, य
सामान्य है, यह विशेष है और यह उनका अविश्वग्भावरूप (अपृथग्भूत
समवाय-सम्बन्ध है, इस प्रकार भेद करके सन्नयनिबन्धन (समीचीन न
व्यवस्थाको लिये हुए) व्यवहार प्रवर्तता है और उससे अनेकान्तम
प्रसिद्ध होता है, जो वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है और इसलिये वैशेषिकोंके मत
स्वभावसिद्ध संसर्गके भी न बन सकनेसे संसर्गकी हानि ही ठहरती है
और संसर्गकी हानि होनेसे—पदार्थोंका परस्परमें स्वतः (स्वभावसे)अथव
परतः (दूसरेके निमित्तसे) कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण—**संपूर्ण
पदार्थोंकी हानि ठहरती है**—किसी भी पदार्थकी तब सत्ता अथवा
व्यवस्था बन नहीं सकती।—अतः जो लोग इस हानिको नहीं चाहते उन
आस्तिकोंके द्वारा वही वस्तुतत्त्व समर्थनीय है जो अभेद-भेदात्मक है, परस्पर
तन्त्र है, प्रतीतिका विषय है तथा अर्थक्रियामें समर्थ है और इसलिये
जिसमें विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। वह वस्तुतत्त्व हे वीरजिन!
आपके मतमें प्रतिष्ठित है, इसीसे आपका मत अद्वितीय है—नयों तथा
प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करनेवाला और दूसरे सभी प्रवादों
(सर्वथा एकान्तवादों) से अबाध्य होनेके कारण सुव्यवस्थित है—दूसरा
(सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेनेवाला) कोई भी मत व्यवस्थित न होने-
से उसके जोड़का, सानी अथवा समान नहीं है, वह अपना उदाहरण
आप है।

भावेषु नित्येषु विकारहाने-
र्न कारक-व्यापृत-कार्य-युक्तिः ।

न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः
समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥८॥

'सत्तात्मक पदार्थोंको—दिक्-काल-आकाश-आत्माको,—पृथिव्यादि-परमाणु-द्रव्योंको, परम-महत्त्वादि गुणोंको तथा सामान्य-विशेष-समवाय-को—(सर्वथा) नित्य माननेपर उनमें विकारकी हानि होती है—कोई भी प्रकारकी विक्रिया नहीं बन सकती—विकारकी हानिसे कर्त्तादि कारकोंका (जो क्रियाविशिष्ट द्रव्य प्रसिद्ध हैं उनका) व्यापार नहीं बन सकता, कारक-व्यापारके अभावमें (द्रव्य-गुण-कर्मरूप) कार्य नहीं बन सकता, और कार्यके अभावमें (कार्यलिंगात्मक अनुमानरूप तथा योग-सम्बन्ध-संसर्गरूप) युक्ति घटित नहीं हो सकती। युक्तिके अभावमें बन्ध तथा (बन्ध-फलानुभवनरूप) भोग दोनों नहीं बन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है;—क्योंकि विमोक्ष बन्धपूर्वक ही होता है, बन्धके अभावमें मोक्ष कैसा? इस तरह पूर्व-पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तरकी व्यवस्था न बन सकनेसे संपूर्ण भावात्मक पदार्थोंकी हानि ठहरती है—किसीकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और जब भावात्मक पदार्थ ही व्यवस्थित नहीं होते तब प्रागभाव-प्रध्वंसाभावादि अभावात्मक पदार्थोंकी व्यवस्था तो कैसे बन सकती है? क्योंकि वे भावात्मक पदार्थोंके विशेषण होते हैं, स्वतंत्ररूपसे उनकी कोई सत्ता ही नहीं है। अतः (हे वीरजिन!) आपके मतसे भिन्न दूसरोंका—सर्वथा एकान्तवादी वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य आदिका—मत (शासन) सब प्रकारसे दोषरूप है—देश, काल और पुरुषविशेषकी अपेक्षासे भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम गम्य सभी स्थानोंमें बाधित है।'

अहेतुकत्व-प्रथितः स्वभाव-
स्तस्मिन् क्रिया-कारक-विभ्रमः स्यात्।
आबाल-सिद्धेर्विविधार्थ-सिद्धि-
र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥९॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मादि नित्य द्रव्योंमें स्वभावसे ही विकार सिद्ध है अतः कारकव्यापार, कार्य और कार्ययुक्ति सब ठीक घटित होते हैं, और इस तरह सकल दोष असंभव ठहरते हैं—कोई भी दोषापत्ति नहीं बन सकती; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वह स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित (प्रसिद्ध) है अथवा आबाल-सिद्धिसे विविधार्थ-सिद्धिके रूपमें प्रथित है ? (उत्तरमें) यदि यह कहा जाय कि नित्य पदार्थोंमें विकारी होनेका स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित है तो ऐसी दशामें क्रिया और कारकका विभ्रम ठहरता है—स्वभावसे ही पदार्थोंका ज्ञान तथा आविर्भाव होनेसे ज्ञप्ति तथा उत्पत्तिरूप जो प्रतीयमान क्रिया है उसके भ्रान्तिरूप होनेका प्रसंग आता है, अन्यथा स्वभावके निर्हेतुकत्वकी सिद्धि नहीं बनती। और क्रियाके विभ्रमसे प्रतिभासमान कारक-समूह भी विभ्रम-रूप हो जाता है; क्योंकि क्रियाविशिष्ट द्रव्यका नाम 'कारक' प्रसिद्ध है, क्रियासे कारककी उत्पत्ति नहीं। और स्वभाववादीके द्वारा क्रिया-कारकका विभ्रम मान्य नहीं किया जा सकता—विभ्रमकी मान्यतापर वादान्तरका प्रसंग आता है—सर्वथा स्वभाववाद स्थिर न रहकर एक नया विभ्रम-वाद और खड़ा हो जाता है। परन्तु (हे वीरजिन !) क्या आपसे—आपके स्याद्वाद-शासनसे—द्वेष रखनेवालेके यहाँ यह वादान्तर बनता है ?—नहीं बनता; क्योंकि 'सब कुछ विभ्रम है' ऐसा एकान्तरूप वादा-न्तर स्वीकार करनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस विभ्रममें अविभ्रम—अभ्रान्ति है या वह भी विभ्रम—भ्रान्तिरूप है ? यदि अविभ्रम है तो विभ्रम-एकान्त न रहा—अविभ्रम भी कोई पदार्थ ठहरा। और यदि विभ्रममें भी विभ्रम है तो सर्वत्र अभ्रान्तिकी सिद्धि हुई; क्योंकि विभ्रममें विभ्रम होनेसे वास्तविक स्वरूपकी प्रतिष्ठा होती है। और ऐसी हालतमें स्वभावके निर्हेतु-कत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।'

'यदि यह कहा जाय कि (बिना किसी हेतुके नहीं किन्तु) आबाल-सिद्धिरूप हेतुसे विविधार्थकी—सर्वथा नित्य पदार्थोंमें विक्रिया तथा कारक-व्यापारादिकी—सिद्धिके रूपमें स्वभाव प्रथित (प्रसिद्ध) है—

अर्थात् क्रिया-कारकादिरूप जो विविध अर्थ हैं उन्हें बालक तक भी स्वीकार करते हैं इसलिये वे सिद्ध हैं और उनका इस प्रकारसे सिद्ध होना ही स्वभाव है—तो यह वादान्तर हुआ; परन्तु यह वादान्तर भी (हे वीर भगवन् !) आपके द्वेषियोंके यहाँ बनता कहाँ है ?—क्योंकि वह आबाल-सिद्धिसे होनेवाली निर्णीति नित्यादि सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेनेपर नहीं बन सकती, जिससे सब पदार्थों सब कार्यों और सब कारणों-की सिद्धि होती। कारण यह कि वह निर्णीति अनित्य होती है और बिना वि-क्रियाके बनती नहीं, इसलिये सर्वथानित्य एकान्तके साथ घटित नहीं हो सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे किसी पदार्थकी सिद्धिके न हो सकनेपर दूसरोंके पूछने अथवा दूषणार्थ जिज्ञासा करनेपर स्वभाववादका अवलम्बन ले लेना युक्त नहीं है; क्योंकि इससे अतिप्रसंग आता है— प्रकृतसे अन्यत्र विपक्षमें भी यह घटित होता है। सर्वथा अनित्य अथवा क्षणिक एकान्तको सिद्ध करनेके लिये भी स्वभाव-एकान्तका अवलम्बन लिया जा सकता है। और यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सामर्थ्यसे विविधार्थकी सिद्धिरूप स्वभाव है तो फिर स्वभाव-एकान्तवाद कैसे सिद्ध हो सकता है ?; क्योंकि स्वभावकी तो स्वभावसे ही व्यवस्थिति है, उसको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके बल-से व्यवस्थापित करनेपर स्वभाव-एकान्त स्थिर नहीं रहता। इस तरह हे वीर जिन ! आपके अनेकान्तशासनसे विरोध रखनेवाले सर्वथा एकान्त-वादियोंके यहाँ कोई भी वादान्तर (एकके साथ दूसरा वाद) बन नहीं सकता—वादान्तर तो सम्यक् एकान्तके रूपमें आपके मित्रों—सपक्षियों अथवा अनेकान्तवादियोंके यहाँ ही घटित होता है।'

येषामवक्तव्यमिहाऽऽत्म-तत्त्वं
देहादनन्यत्व-पृथक्त्व-क्लृप्तेः ।
तेषां ज्ञ-तत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे
का बन्ध-मोक्ष-स्थितिरप्रमेये ॥१०॥

'नित्य आत्मा देहसे (सर्वथा) अभिन्न है या भिन्न इस कल्पनाके होनेसे (और अभिन्नत्व तथा भिन्नत्व दोनोंमेंसे किसी एक भी विकल्पके निर्दोष सिद्ध न हो सकनेसे[१]) जिन्होंने आत्मतत्त्वको 'अवक्तव्य'—वचनके अगोचर अथवा अनिर्वचनीय— माना है उनके मतमें आत्मतत्त्व अनवधार्य (अज्ञेय) तत्त्व हो जाता है—प्रमेय नहीं रहता। और आत्मतत्त्वके अनवधार्य (अप्रमेय) होनेपर तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय न रहनेपर बन्ध और मोक्षकी कौनसी स्थिति बन सकती है ? बन्ध्या-पुत्रकी तरह कोई भी स्थिति नहीं बन सकती—न बन्ध व्यवस्थित होता है और न मोक्ष। और इसलिये बन्ध-मोक्षकी सारी चर्चा व्यर्थ ठहरती है।'

---

१ देहसे आत्माको सर्वथा अभिन्न माननेपर संसारके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि देह-रूपादिककी तरह देहात्मक आत्माका भवान्तर-गमन तब बन नहीं सकता और इसलिये उसी भवमें उसका विनाश ठहरता है, विनाशका नित्यत्वके साथ विरोध होनेसे आत्मा नित्य नहीं रहता और चार्वाकमतके आश्रयका प्रसंग आता है, जो आत्मतत्त्वको भिन्नतत्त्व न मानकर पृथिवी आदि भूतचतुष्कका ही विकार अथवा कार्य मानता है और जो प्रमाण-विरुद्ध है तथा आत्मतत्त्ववादियोंको इष्ट नहीं है। और देहसे आत्माको सर्वथा भिन्न माननेपर देहके उपकार-अपकारसे आत्माके सुख-दुःख नहीं बनते, सुख-दुःखका अभाव होनेपर राग-द्वेष नहीं बन सकते और राग-द्वेषके अभावमें धर्म अधर्म सम्भव नहीं हो सकते। अतः 'स्वदेहमें अनुरागका सद्भाव होनेसे उसके उपकार-अपकारके द्वारा आत्माके सुख-दुःख उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह स्वगृहादिके उपकार-अपकारसे उत्पन्न होते हैं' यह बात कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती। इस तरह दोनों ही विकल्प सदोष ठहरते हैं।

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो
योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः ।
'न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये'
सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥११॥

'प्रथम क्षणमें नष्ट हुआ चित्त-आत्मा दूसरे क्षणमें विद्यमान नहीं रहता' यह जो (बौद्धोंका) क्षणिकात्मवाद है वह (केवल) प्रवाद है—प्रमाणशून्य वाद होनेसे प्रलापमात्र है; क्योंकि इसका ज्ञापक—अनुमान करानेवाला—कोई भी दृष्ट या अदृष्ट हेतु नहीं बनता ।'

(यदि यह कहा जाय कि 'जो सत् है वह सब स्वभावसे ही क्षणिक है', जैसे शब्द और विद्युत आदि; अपना आत्मा भी चूँकि सत् है अतः वह भी स्वभावसे क्षणिक है, और यह स्वभावहेतु ही उसका ज्ञापक है, तो इस प्रकारके अनुमानपर—ऐसा कहने अथवा अनुमान लगानेपर—यह प्रश्न पैदा होता है कि वह हेतु स्वयं प्रतिपत्ता (ज्ञाता) के द्वारा दृष्ट (देखा गया) है या अदृष्ट (नहीं देखा गया अर्थात् कल्पनारोपित) है ? दृष्टहेतु संभव नहीं हो सकता; क्योंकि सब कुछ क्षणिक होनेके कारण दर्शनके अनन्तर ही उसका विनाश हो जानेसे अनुमान कालमें भी उसका अभाव होता है । साथही, चित्तविशेषके लिङ्ग-दर्शी उस अनुमाताका भी संभव नहीं रहता । इसी तरह कल्पनारोपित (कल्पित) अदृष्ट हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि उस कल्पनाका भी तत्क्षण विनाश हो जानेसे अनुमान-कालमें सद्भाव नहीं रहता ।)

'(यदि यह कहा जाय कि व्याप्तिके ग्रहणकालमें लिङ्गदर्शनकी जो कल्पना उत्पन्न हुई थी उसके तत्क्षण विनाश हो जानेपर भी उसकी वासना (संस्कार) बनी रहती है अतः अनुमान-कालमें लिङ्ग-दर्शनसे प्रबुद्ध हुई उस वासनाके सामर्थ्यसे अनुमान प्रवृत्त होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं

है; क्योंकि **सन्तानभिन्न** (चित्त) **में**—हेतु (साधन) और हेतुमद् (साध्य) के अविनाभाव-सम्बन्धरूप व्याप्तिके ग्राहक चित्तसे अनुमाताका चित्त (सन्तानतः भिन्नकी तरह) भिन्नसन्तान होनेसे उसमें—**वासनाका अस्तित्व नहीं बन सकता**। यदि भिन्न-सन्तानवालेके वासनाका अस्तित्व माना जाय तो भिन्नसन्तान देवदत्त-द्वारा साध्य-साधनकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर जिनदत्तके (व्याप्तिका ग्रहण न होनेपर भी) साधनको देखने मात्रसे साध्यके अनुमानका प्रसंग आएगा; क्योंकि दोनोंमें कोई विशेष नहीं है। और यह बात संभव नहीं हो सकती; क्योंकि व्याप्तिके ग्रहण-बिना अनुमान प्रवर्तित नहीं हो सकता।'

तथा न तत्कारण-कार्य-भावो
निरन्वयाः केन समानरूपाः ? ।
असत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं
दृष्टं न सिद्ध्यत्युभयोरसिद्धम् ॥१२॥

'(जिस प्रकार सन्तानभिन्न चित्तमें वासना नहीं बन सकती) उसी **प्रकार संतानभिन्न चित्तोंमें कारण-कार्य-भाव भी नहीं बन सकता**— सन्तानभिन्न चित्तोंमें भी कारण-कार्य-भाव मानने पर देवदत्त और जिनदत्तके चित्तोंमें भी कारण-कार्य-भावके प्रवर्तित होनेका प्रसंग आएगा, जो न तो दृष्ट है और न बौद्धोंके द्वारा इष्ट है।'

'(यदि यह कहा जाय कि एक सन्तानवर्ती समानरूप चित्तक्षणोंके ही कारण-कार्य-भाव होता है, भिन्नसन्तानवर्ती असमानरूप चित्तक्षणोंके कारण-कार्य-भाव नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) जो चित्त-क्षण क्षणविनश्वर **निरन्वय** (सन्तान-परम्परासे रहित) माने गये हैं उन्हें **किसके साथ समानरूप** कहा जाय ?—किसी भी स्वभावके साथ वे समानरूप नहीं हैं, और इसलिए उनमें कारण-कार्य-भाव घटित नहीं हो

सकता। सत्स्वभाव अथवा चित्स्वभावके साथ समानरूप माननेपर भिन्न-सन्तानवर्ती देवदत्त और जिनदत्तके चित्त-क्षण भी सत्स्वभाव और चित्स्वभावकी दृष्टिसे परस्परमें कोई विशेष न रखनेके कारण समानरूप ठहरेंगे और उनमें कारण-कार्य-भावकी उक्त आपत्ति बदस्तूर बनी रहेगी।'

'(यदि हेत्वपेक्षि-स्वभावके साथ समानरूप माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि जो चित्त उपादान-उपादेय-भावको लिये हुए हैं—पूर्व-पूर्वका चित्त जिनमें उत्तरोत्तरवर्ती चित्तका उपादान कारण है—वे ही एक-सन्तानवर्ति-चित्त परस्परमें समानरूप हैं और उन्हींके कारण-कार्य-भाव घटित होता है—सन्तानान्तरवर्ति-चित्तोंके नहीं; तो इसमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि उत्तरवर्ती-चित्त उत्पन्न और सत् होकर अपने हेतुकी अपेक्षा करता है या अनुत्पन्न और असत् होकर। प्रथम पक्ष तो बनता नहीं; क्योंकि सत्के सर्वथा निराशंसत्व (अवक्तव्यपना) माननेसे उसे हेत्वपेक्षरूपमें नहीं कहा जा सकता। और उत्पन्नके हेत्वपेक्षत्वका विरोध है—जो उत्पन्न हो चुका वह हेतुकी अपेक्षा नहीं रखता। दूसरा पक्ष माननेपर) जो (कार्यचित्त) असत् है—उत्पत्तिके पूर्वमें जिसका सर्वथा अभाव है—वह आकाशके पुष्प-समान हेत्वपेक्ष नहीं देखा जाता और न सिद्ध होता है; क्योंकि कोई भी असत्पदार्थ हेत्वपेक्षके रूपमें वादी-प्रतिवादी दोनोंमेंसे किसीके भी द्वारा सिद्ध (मान्य) नहीं है, जिससे उत्तरोत्तर चित्तको अनुत्पन्न होनेपर भी तद्धेत्वपेक्ष सिद्ध किया जाता। हेतुके अभावमें कैसे कोई एक-सन्तानवर्ती चित्तक्षण हेत्वपेक्षत्वके साथ समानरूप सिद्ध किये जा सकते हैं, जिससे उनके उपादान-उपादेय-रूपका कारण-कार्य-भाव घटित हो सके? नहीं किये जा सकते। वास्य-वासक-भावरूप हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि एकसन्तानवर्ति—क्षणविनश्वर-निरन्वय-चित्तक्षणोंमें, भिन्नसन्तानवर्ति-चित्तक्षणोंकी तरह, वासनाका संभव नहीं होता।'

नैवाऽस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे
न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा
सन्तान-भिन्न-क्षणयोरभावात् ॥१३॥

(परमार्थसे तो) क्षणिकात्मवादमें हेतु बनता ही नहीं। क्योंकि हेतुको यदि सत्‌रूप माना जाय—सत्‌रूप ही पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्त-क्षणका हेतु है ऐसा स्वीकार किया जाय—तो इससे विभवका प्रसंग आता है। अर्थात् एक क्षणवर्ती चित्तमें चित्तान्तरकी उत्पत्ति होनेपर उस चित्तान्तरके कार्यकी भी उसी क्षण उत्पत्ति होगी, और इस तरह सकलचित्त और चैत्तक्षणोंके एकक्षणवर्ती हो जानेपर सकल जगत्-व्यापी चित्तप्रकारोंकी युगपत् सिद्धि ठहरेगी। और ऐसा होनेसे, जिसे क्षणिक कहा जाता है वह विभुत्वरूप ही है—सर्व व्यापक है—यह कैसे निवारण किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। इसके सिवाय, एकक्षणवर्ती सत्-चित्तके पूर्वकाल तथा उत्तरकालमें जगत् चित्तशून्य ठहरता है और सन्तान-निर्वाण-रूप जो विभवमोक्ष है वह सबके अनुपाय (विना प्रयत्नके ही) सिद्ध होता है, और इसलिए सत् हेतु नहीं बनता। (इस दोषसे बचनेके लिये) यदि हेतुको असत् ही कहा जाय तो अकस्मात्—विना किसी कारणके ही—कार्योत्पत्तिका प्रसंग आएगा। और इस लिये असत् हेतु भी नहीं बनता।'

'(यदि आकस्मिक कार्योत्पत्तिके दोषसे बचनेके लिये कारणके नाशके अनन्तर दूसरे क्षणमें कार्यका उदय—उत्पाद न मानकर नाश और उत्पाद-को एक-क्षणवर्ती माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि जिसका नाश ही कार्यका उत्पाद है वह उस कार्यक हेतु है तो यह भी नहीं बनता; क्योंकि संतानके भिन्न क्षणोंमें नाश और उदयकी एक-क्षणताका अभाव होनेसे नाशोदयैकक्षणतारूप युक्ति सदोष है—जैसे सुषुप्त सन्तानमें जाग्रत चित्तका जो नाश-क्षण (विनाश-काल) है वही प्रबुद्ध चित्तका

उदय-क्षण नहीं है, दोनोंमें अनेकक्षणरूप मुहूर्तादि कालका व्यवधान है, और इसलिये जा त चित्तको प्रबुद्ध चित्तका हेतु नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त सदोष युक्तिके आधारपर आकस्मिक कार्योत्पत्तिके दोषसे नहीं बचा जा सकता।'

कृत-प्रणाशाऽकृत-कर्मभोगौ
स्यातामसञ्चेतित-कर्म च स्यात्।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलय-स्वभावे
मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥१४॥

'यदि पदार्थको प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक माना जाय—यह कहा जाय कि जिस प्रकार बौद्ध-मान्यतानुसार विना किसी दूसरे कारणके ही प्रलय (विनाश) आकस्मिक होता है, पदार्थ प्रलय-स्वभावरूप हैं, उसी प्रकार कार्यका उत्पाद भी विना कारणके ही आकस्मिक होता है—तो इससे कृत-कर्मके भोगका प्रणाश ठहरेगा—पूर्व चित्तने जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किया उसके फलका भोगी वह न रहेगा और इससे किये हुए कर्मको करने वालेके लिये निष्फल कहना होगा—और अकृतकर्मके फलको भोगनेका प्रसङ्ग आएगा—जिस उत्तरभावी चित्तने कर्म किया ही नहीं उसे अपने पूर्वचित्त-द्वारा किये हुए कर्मका फल भोगना पड़ेगा—; क्योंकि क्षणिकात्मवादमें कोई भी कर्मका कर्ता चित्त उत्तर-क्षणमें अवस्थित नहीं रहता किन्तु फलकी परम्परा चलती है। साथ ही, कर्म भी असंचेतित—अविचारित ठहरेगा—क्योंकि जिस चित्तने कर्म करनेका विचार किया उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जानेसे और विचार न करनेवाले उत्तरवर्ती चित्तके द्वारा उसके सम्पन्न होनेसे उसे उत्तरवर्ती चित्तका अविचारित कार्य ही कहना होगा।'

'(इसी तरह) पदार्थके प्रलय-स्वभावरूप क्षणिक होनेपर कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा—सकल आस्रव-निरोधरूप मोक्षका अथवा

चित्त-सन्ततिके नाशरूप शान्त-निर्वाणका मार्ग (हेतु) जो नैरात्म्य-भावना-रूप बतलाया जाता है वह भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि नाशके निर्हेतुक होनेसे सास्रव-चित्त-सन्ततिका नाश करनेके लिये किसी नाशकका होना विरुद्ध पड़ता है—स्वभावसे ही नाश मानने पर कोई नाशक नहीं बनता। और वधक भी कोई नहीं रहता—क्योंकि वह भी प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक है, जिस चित्तने वधका—हिंसाका—विचार किया वह उसी क्षण नष्ट हो जाता है और जिसका वध हुआ वह उसके प्रलयस्वभावसे आकस्मिक हुआ, उसके लिये वधका विचार न रखने वाले किसी भी दूसरे चित्तको अपराधी नहीं ठहराया जा सकता।'

न बन्ध-मोक्षौ क्षणिकैक-संस्थौ
न संवृतिः साऽपि मृषा-स्वभावा ।
मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्टो
विभ्रान्त-दृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥१५॥

'(पदार्थके प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक होनेपर) क्षणिक-एक-चित्तमें संस्थित बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते—क्योंकि जिस चित्तका बन्ध है उसका निरन्वयविनाश हो जानेसे उत्तर-चित्त जो अबद्ध है उसीके मोक्षका प्रसंग आएगा, और एक चित्त-संस्थित बन्ध-मोक्ष उसे कहते हैं कि जिस चित्तका बन्ध हो उसीका मोक्ष होवे।'

'(यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-चित्तोंमें एकत्वके आरोपका विकल्प करनेवाली 'संवृति' से क्षणिक-एकचित्त-संस्थित बन्ध और मोक्ष बनते हैं, तो प्रश्न पैदा होता है कि वह संवृति मृषास्वभावा है या गौण-विधिरूपा है ?) मृषास्वभावा संवृति क्षणिक एक चित्तमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं है—उससे बन्ध और मोक्ष भी मिथ्या ठहरते हैं। और गौणविधि मुख्यके विना देखी नहीं जाती (पुरुषसिंहकी तरह)—जिस प्रकार क्रूसी पुरुषको मुख्य सिंहके अभावमें

'पुरुषसिंह' कहना नहीं बनता उसी प्रकार किसी चित्तमें मुख्यरूपसे बन्ध-मोक्षका सन्तिष्ठमान बतलाये बिना बन्ध-मोक्षकी गौणविधि नहीं बनती, और इससे मुख्यविधिके अभावमें गौणविधिरूप संवृति भी किसी एक क्षणिक चित्तमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेमें असमर्थ है (अतः हे वीरजिन!) आपकी (स्याद्वादरूपिणी अनेकान्त) दृष्टिसे भिन्न जो दूसरी (क्षणिकात्मवादियोंकी सर्वथा एकान्त) दृष्टि है वह विभ्रान्त दृष्टि है—सब ओरसे दोषरूप होनेके कारण वस्तुतत्त्वको यथार्थरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है।'

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वा-
न्नमातृ-घाती स्व-पतिः स्व-जाया।
दत्त-ग्रहो नाऽधिगत-स्मृतिर्न
न क्त्वार्थ-सत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

'क्षण-क्षणमें पदार्थोंको भङ्गवान्—निरन्वय विनाशवान—माननेपर उनके पृथक्पनकी वजहसे—सर्वथा भिन्न होनेके कारण—कोई मातृघाती नहीं बनता—क्योंकि तब पुत्रोत्पत्तिके क्षणमें ही माताका स्वयं नाश हो जाता है, उत्तरक्षणमें पुत्रका भी प्रलय हो जाता है और अपुत्रका ही उत्पाद होता है; न कोई किसी (कुलस्त्री) का स्वपति बनता है;—क्योंकि उसके विवाहित पतिका उसी क्षण विनाश हो जाता है, अन्य अविवाहितका उत्पाद होता है; और न कोई किसीकी स्वपत्नी (विवाहिता स्त्री) ठहरती है—क्योंकि उसकी विवाहिता स्त्रीका उसी क्षण विनाश हो जाता है, अन्य अविवाहिताका ही उत्पाद होता है, और इससे परस्त्रीसेवनका भी प्रसङ्ग आता है।'

'(इसी तरह) दिये हुए धनादिकका (ऋणी आदिके पाससे) पुनः ग्रहण (वापिस लेना) नहीं बनता—क्योंकि बौद्ध-मान्यतानुसार जो ऋण देता है उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जाता है, उत्तर-

क्षणमें लेनेवालेका भी विनाश हो जाता है तथा अन्यका ही उत्पाद होता है और साक्षी-लेखादि भी कोई स्थिर नहीं रहता, सब उसी क्षण ध्वस्त हो जाते हैं। अधिगत किये हुए (शास्त्रके) अर्थकी स्मृति भी तब नहीं बनती—और इससे शास्त्राभ्यास निष्फल ठहरता है। 'क्त्वा' प्रत्ययका जो अर्थ-सत्य है—प्रमाणरूपसे स्वीकृत है—वह भी नहीं बनता—क्योंकि पूर्व और उत्तर-क्रियाका एक ही कर्ता होनेपर पूर्वकाल-की क्रियाको 'क्त्वा' (करके) प्रत्ययके द्वारा व्यक्त किया जाता है; जैसे 'रामो भुक्त्वा गतः'—राम खाकरके गया। यहाँ खाना और जाना इन दोनों क्रियाओंका कर्ता एक ही राम है तभी उसकी पहली खानेकी क्रिया-को 'करके' शब्दके द्वारा व्यक्त किया गया है, रामके क्षणभंगुर होनेपर वह दोनों क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता और दोनों क्रियाओंके कर्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति होनेपर ऐसा वाक्य-प्रयोग नहीं बनता'

'(इसी प्रकार) न कोई कुल बनता है और न कोई जाति ही बनती है—क्योंकि सूर्यवंशादिक जिस कुलमें किसी क्षत्रियका जन्म हुआ उस कुलका निरन्वय विनाश हो जानेसे उस जन्ममें उसका कोई कुल न रहा, तब उसके लिये कुलका व्यवहार कैसे बन सकता है ? क्षत्रियादि कोई जाति भी उस जातिके व्यक्तियोंके विना असम्भव है। और अनेक व्यक्ति-योंमेंसे अतद्व्यावृत्तिके ग्राहक एक चित्तका असम्भव होनेसे अन्यापोह-लक्षणा (अन्यसे अभावरूप, अक्षत्रिय व्यावृत्तिरूप) जाति भी घटित नहीं हो सकती।'

न शास्तृ-शिष्यादि-विधि-व्यवस्था
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत्।
अतत्त्व-तत्त्वादि-विकल्प-मोहे
निमज्जतां वीत-विकल्प-धीः का ? ॥१७॥

'(चित्तोंके प्रतिक्षण भंगुर अथवा निरन्वय-विनष्ट होनेपर) शास्ता

और शिष्यादिके स्वभाव-स्वरूपकी (भी) कोई व्यवस्था नहीं बनती—क्योंकि तब तत्त्वदर्शन, परानुग्रहको लेकर तत्त्व-प्रतिपादनकी इच्छा और तत्त्वप्रतिपादन, इन सब कालोंमें रहनेवाले किसी एक शासक (उपदेष्टा) का अस्तित्व नहीं बन सकता। और न ऐसे किसी एक शिष्यका ही अस्तित्व घटित हो सकता है जो कि शासन-श्रवण (उपदेश सुनने) की इच्छा और शासनके श्रवण, ग्रहण, धारण तथा अभ्यसनादि कालोंमें व्यापक हो। 'यह शास्ता है और मैं शिष्य हूँ' ऐसी प्रतिपत्ति भी किसीके नहीं बन सकती। और इसलिये बुद्ध-सुगतको जो शास्ता माना गया है और उनके शिष्योंकी जो व्यवस्था की गई है वह स्थिर नहीं रह सकती। इसी तरह ('आदि' शब्दसे) स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र और पौत्र-पितामह आदिकी भी कोई विधि-व्यवस्था नहीं बैठ सकती, सारा लोक-व्यवहार लुप्त हो जाता अथवा मिथ्या ठहरता है।'

'(यदि बौद्धोंकी ओरसे यह कहा जाय कि बाह्य तथा आभ्यन्तररूपसे प्रतिक्षण स्वलक्षणों (स्वपरमाणुओं) के विनश्वर होनेपर परमार्थसे तो मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिकी विधि-व्यवस्थाका व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता, तब ?) यह सब विकल्प-बुद्धि है (जो अनादि-वासना-से समुद्भूत होकर मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिरूप विधि व्यवस्था-की हेतु बनी हुई है) और विकल्प-बुद्धि सारी मिथ्या होती है, ऐसा कहने वालों (बौद्धों) के यहां, जो (स्वयं) अतत्त्व-तत्त्वादिके विकल्प-मोहमें डूबे हुए हैं, निर्विकल्प-बुद्धि बनती कौन-सी है ?—कोई भी सार्थिका और सच्ची निर्विकल्प-बुद्धि नहीं बनती; क्योंकि मातृघाती आदि सब विकल्प अतत्त्वरूप हैं और उनसे जो कुछ अन्य हैं वे तत्त्वरूप हैं यह व्यवस्थिति भी विकल्पवासनाके बलपर ही उत्पन्न होती है। इसी तरह 'संवृति' (व्यवहार) से 'अतत्त्व' की और परमार्थसे 'तत्त्व' की व्यवस्था भी विकल्प-शिल्पीके द्वारा ही घटित की जा सकती है—वस्तुबलसे नहीं। इस प्रकार विकल्प-मोह बौद्धोंके लिये महासमुद्रकी तरह दुष्पार ठहरता है। इस

र यदि यह कहा जाय कि बुद्धोंकी धर्म-देशना ही दो सत्योंको लेकर हुई है—

को सिद्ध करनेके लिये जो (प्रतिभाससमानत्व) हेतु दिया जाता है उसकी (स्वसंवेदन-साधनकी तरह) सिद्धि नहीं बनती और जब हेतु ही सिद्ध नहीं तब उससे (असिद्ध-साधनसे) विज्ञप्तिमात्ररूप साध्यकी सिद्धि भी नहीं बन सकती।

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै-
र्विश्वाऽभिलापाऽऽस्पदतामतीतम् ।
न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं
सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्ति-बाह्यम् ॥१९॥

'जो (विज्ञानाऽद्वैत) तत्त्व सकल विकल्पोंसे विशुद्ध (शून्य) है—कार्य-कारण, ग्राह्य-ग्राहक, वास्य-वासक, साध्य-साधन, बाध्य-बाधक, वाच्य-वाचक भाव आदि कोई भी प्रकारका विकल्प जिसमें नहीं है—वह स्व-संवेद्य नहीं होसकता; क्योंकि संवेदनावस्थामें योगीके अन्य सब विकल्पोंके दूर होनेपर भी ग्राह्य-ग्राहकके आकार विकल्पात्मक संवेदनका प्रतिभासन होता है, बिना इसके वह बनता ही नहीं, और जब विकल्पात्मक संवेदन हुआ तो सकल विकल्पोंसे शून्य विज्ञानाद्वैत तत्त्व न रहा।

'(इसी तरह) जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सम्पूर्ण अभिलापों (कथन प्रकारों) की आस्पदता (आश्रयता) से रहित है—जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया और यदृच्छा (संकेत) की कल्पनाओंसे शून्य होनेके कारण उस प्रकारके किसी भी विकल्पात्मक शब्दका उसके लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता—वह निगद्य (कथनके योग्य) भी नहीं हो सकता—दूसरोंको उसका प्रतिपादन नहीं किया जासकता।'

(अतः हे वीरजिन !) आपकी उक्तिसे—अनेकान्तात्मक स्याद्वादसे—जो बाह्य है वह सर्वथा एकान्तरूप विज्ञानाद्वैत-तत्त्व (सर्वथा विकल्प और अभिलापसे शून्य होनेके कारण) सुषुप्ति की अवस्थाको प्राप्त है—सुषुप्तिमें संवेदनकी जो अवस्था होती है वही उसकी अवस्था है। और इससे यह भी फलित होता है कि स्याद्वादका आश्रय लेकर ऋजुसूत्र नया-वलम्बियोंके द्वारा जो यह माना जाता है कि विज्ञानका अर्थ तत्त्व विज्ञानके अर्थपर्यायके आदेशसे ही सकल-विकल्पों तथा अभिलापोंसे रहित है और व्यवहारनयावलम्बियोंके द्वारा जो उसे विकल्पों तथा अभिलापोंका आश्रय

स्थान बतलाया जाता है वह सब आपकी उक्तिके बाह्य नहीं है—आपके सर्वथा नियम—त्यागी स्याद्वादमतके अनुरूप है।'

मूकात्म-संवेद्यवदात्म-वेद्यं
तन्म्लिष्ट-भाषा-प्रतिम-प्रलापम्।
अनङ्ग-संज्ञं तदवेद्यमन्यैः
स्यात् त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्य-तत्त्वम् ॥२०॥

'शास्ता-बुद्धदेवने ही (यथार्थ दर्शनादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण) **अनवद्य वचनोंकी शिक्षा दी, परन्तु उन वचनोंके द्वारा उनके वे शिष्य शिक्षित नहीं हुए !' यह कथन** (बौद्धोंका) **अहो दूसरा दुर्गतम अन्धकार है**—अतीव दुष्पार महामोह है !!—क्योंकि गुणवान शास्ताके होनेपर प्रत्तिपत्तियोग्य प्रतिपाद्यों-शिष्योंके लिये सत्य-वचनोंके द्वारा ही तत्त्वानुशासनका होना प्रसिद्ध है। बौद्धोंके यहाँ बुद्धदेवके शास्ता प्रसिद्ध होनेपर भी, बुद्धदेवके वचनोंको सत्यरूपमें स्वीकार करनेपर भी और (बुद्ध-प्रवचन सुननेके लिये) प्रणिहितमन (दत्तावधान) शिष्योंके मौजूद होते हुए भी वे शिष्य उन वचनोंसे शिक्षित नहीं हुए, यह कथन बौद्धों-का कैसे अमोह कहा जासकता है ?—नहीं कहा जासकता, और इस लिये बौद्धोंका यह दर्शन (सिद्धान्त) परीक्षावानोंके लिये उपहासास्पद जान पड़ता है।

(यदि यह कहा जाय कि इस शासनमें संवृतिसे—व्यवहारसे—शास्ता, शिष्य, शासन तथा शासनके उपायभूत वचनोंका सद्भाव स्वीकार किया जानेसे और परमार्थसे संवेदनाद्वैतके निःश्रेयस-लक्षणकी—निर्वाण-रूपकी—प्रसिद्धि होनेसे यह दर्शन उपहासास्पद नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **हे आर्य-वीरजिन ! आपके विना**—आप जैसे स्याद्वादनायक शास्ताके अभावमें—**निःश्रेयस** (कल्याण अथवा निर्वाण) **बनता कौन-सा है, जिससे संवेदनाद्वैतको निःश्रेयसरूप कहा जाय ?** सर्वथा एकान्त-वादका आश्रय लेनेवाले शास्ताके द्वारा कुछ भी सम्भव नहीं है, ऐसा प्रमाणसे परीक्षा किये जानेपर जाना जाता है । सर्वथा एकान्तवादमें संवृति और परमार्थ ऐसे दो रूपसे कथन ही नहीं बनता और दो रूपसे कथनमें सर्वथा एकान्तवाद अथवा स्याद्वादमत का विरोध स्थिर नहीं रहता ।'

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिङ्ग-गम्यं न तदर्थ-लिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः
का तद्गतिः ? कष्टमश्रृण्वतां ते ॥२२॥

परमार्थ-शून्य ठहरता है, दोनोंमें परमार्थ-शून्यता-विषयक कोई भेद नहीं है; क्योंकि (हे वीर जिन !) उनमेंसे प्रत्येक वाक्य भवत्प्रतीप है—आपके अनेकान्त-शासनके प्रतिकूल सर्वथा एकान्त-विषयरूपसे ही अङ्गीकृत है—और (इस लिये) परमार्थ-शून्य है। (फलतः) आपके अनेकान्त-शासनका कोई भी वाक्य सर्वथा परमार्थ-शून्य नहीं है—मोक्ष विद्यामृतके शासनको लिये हुए वाक्य जिस प्रकार मोक्षकारणरूप परमार्थसे शून्य नहीं है उसी प्रकार रागाद्यविद्यानलका दीपक वाक्य भी बन्धकारणरूप परमार्थसे—वास्तविकतासे—शून्य नहीं है।

विद्या-प्रसूत्यै किल शील्यमाना
भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञ-मोहो
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥२४॥

'(हे वीर जिन !) आपकी उक्तिसे—स्याद्वादात्मककथन-शैलीसे—अनभिज्ञका—बौद्धोंके एक सम्प्रदायका—यह कैसा मोह है—विपरीताभिनिवेश है—जो यह प्रतिपादन करता है कि 'गुरुके द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान हुई निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमें समर्थ होती है !' (क्योंकि) इससे जो अविद्या अविद्यान्तरके जन्मका कारण सुप्रसिद्ध है वही उसके अजन्मका भी कारण होजाती है !! और यह स्पष्ट विपरीताभिनिवेश है जो दर्शनमोहके उदयाऽभावमें नहीं बन सकता। जो मदिरापान मदजन्मके लिये प्रसिद्ध है वही मदकी अनुत्पत्तिका हेतु होनेके योग्य नहीं होता।'

यदि कोई कहे कि 'जिस प्रकार विषभक्षण विषविकारका कारण प्रसिद्ध होते हुए भी किंचित् विषयविकारके अजन्मका—उसे उत्पन्न न होने देनेका—हेतु देखा जाता है, उसी प्रकार कोई अविद्या भी भाव्यमान (विशिष्ट भावनाको प्राप्त) हुई स्वयं अविद्या-जन्मके अभावकी हेतु होगी, इसमें

विरोधकी कोई बात नहीं' तो उसका यह कथन अपर्यालोचित है; क्योंकि भ्रम-दाह-मूर्छादि विकारको जन्म देने वाला जङ्गमविष अन्य है और उसे जन्म न देने वाला—प्रत्युत उस विकारको दूर कर देने वाला—स्थावरविष अन्य ही है, जो कि उस विषका प्रतिपक्षभूत है, और इस लिये अमृत-कोटिमें स्थित है, इसीसे विषका 'अमृत' नाम भी प्रसिद्ध है। विष सर्वथा विष नहीं होता, उसे सर्वथा विष माननेपर वह विषान्तरका प्रतिपक्षभूत नहीं बन सकता। अतः विषका यह उदाहरण विषम है। उसे यह कह कर साम्य उदाहरण नहीं बतलाया जासकता कि अविद्या भी जो संसारकी हेतु है वह अनादि-वासनासे उत्पन्न हुई अन्य ही है और अविद्याके अनुकूल है, किन्तु मोक्षकी हेतुभूत अविद्या दूसरी है, जो अनादि-अविद्याके जन्मकी निवृत्ति करने वाली तथा विद्याके अनुकूल है, और इसलिये संसारकी हेतु अविद्याके प्रतिपक्षभूत है। क्योंकि जो सर्वदा अविद्याके प्रतिपक्षभूत है उससे अविद्याका जन्म नहीं हो सकता, उसके लिये तो विद्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। यदि अनादि-अविद्याके प्रतिपक्षत्वके कारण उस अविद्याको कथञ्चित् विद्या कहा जायगा तो उससे संवृतिवादियोंके मतका विरोध होकर स्याद्वादि-मतके आश्रयका प्रसंग आएगा। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहाँ केवल-ज्ञानरूप परमा विद्याकी अपेक्षा मतिज्ञानादिरूप क्षायोपशमिकी अपकृष्ट विद्या भी अविद्या मानी गई है—न कि अनादि-मिथ्याज्ञान-दर्शनरूप अविद्याकी अपेक्षा; क्योंकि उसके प्रतिपक्षभूत होनेसे मतिज्ञानादिके विद्यापना सिद्ध है। अतः सर्वथा अविद्यात्मक भावना गुरुके द्वारा उपदिष्ट होती हुई भी विद्याको जन्म देनेमें समर्थ नहीं है। ऐसी अविद्याके उपदेशक गुरुको भी अगुरुत्वका प्रसंग आता है, क्योंकि विद्याका उपदेशी ही गुरु प्रसिद्ध है। और इसलिये पुरुषाद्वैतकी तरह संवेदनाद्वैत तत्त्व भी अनुपाय ही है—किसी भी उपाय अथवा प्रमाणसे वह जाना नहीं जा सकता।)

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः
सा संवृतिः सर्व-विशेष-शून्या।

तस्या विशेषौ किल बन्ध-मोक्षौ
हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥२५॥

'परमार्थवृत्तिसे तत्त्व अभावमात्र है— न तो बाह्याभ्यन्तर निरन्वय क्षणिक परमाणुमात्र तत्त्व है, सौत्रान्तिक मतका निराकरण हो जानेसे; और न अन्तःसंवित्परमाणुमात्र या संवेदनाद्वैतमात्र तत्त्व है, योगाचारमतका निरसन हो जानेसे; किंतु माध्यमिक मतकी मान्यतानुरूप शून्यतत्त्व ही तत्त्व है—**और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप है**—तात्त्विकी नहीं; क्योंकि शून्यसंवित्ति तात्त्विकी होनेपर सर्वथा शून्य तत्त्व नहीं रहता, उसका प्रतिषेध हो जाता है—**और संवृति सर्वविशेषोंसे शून्य है**—पदार्थसद्भाव-वादियोंके द्वारा जो तात्त्विक विशेष माने गये हैं उन सबसे रहित है—**तथा उस अविद्यात्मिका एवं सकलतात्त्विक-विशेष-शून्या संवृतिके भी जो बंध और मोक्ष विशेष हैं वे हेत्वात्मक हैं**—सांवृतरूप हेतु-स्वभावके द्वारा विधीयमान हैं अर्थात् आत्मीयाभिनिवेशके द्वारा बंधका और नैरात्म्य-भावनाके अभ्यास-द्वारा मोक्षका विधान है, दोनोंमेंसे कोई भी तात्त्विक नहीं है। और इस लिये दोनों विशेष विरुद्ध नहीं पड़ते।'; **इस प्रकार** (हे वीर जिन !) **यह उनका वाक्य है**—उन सर्वथाशून्यवादि-बौद्धोंका कथन है—**जिनके आप** (अनेकान्तवादी) **नाथ नहीं हैं**। (फलतः) जिनके आप नाथ हैं उन अनेकान्तवादियोंका वाक्य ऐसा नहीं है किन्तु इस प्रकार है कि—स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सत्रूप पदार्थ ही पर-रूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे अभाव (शून्य) रूप हैं। अभावमात्रके स्वरूप-से ही असत् होनेपर उसमें परमार्थिकत्व नहीं बनता, तब परमार्थवृत्तिसे अभावमात्र कहना ही असंगत है।'

व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्
विश्वाऽभिलापाऽर्थ-विकल्प-शून्यम् ।

ख-पुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं
प्रबुद्ध-तत्त्वाद्भवतः परेषाम् ॥२६॥

'हे प्रबुद्ध-तत्त्व वीरजिन ! आप अनेकान्तवादीसे भिन्न दूसरों-का—अन्य एकान्तावादियोंका—जो सर्वथा सामान्यभावसे रहित, सर्वथा विशेषभावसे रहित तथा (परस्पर सापेक्षरूप) सामान्य-विशेषभाव दोनोंसे रहित जो तत्त्व है वह (प्रकटरूपमें शून्य तत्त्व न होते हुए भी) संपूर्ण अभिलापों तथा अर्थविकल्पोंसे शून्य होनेके कारण आकाश-कुसुमके समान अवस्तु ही है ।'

व्याख्या—सामान्य और विशेषका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—सामान्यके विना विशेषका और विशेषके विना सामान्यका अस्तित्व बन नहीं सकता । और इस लिये जो भेदवादी बौद्ध सामान्यको न मानकर सर्वतः व्यावृतरूप विशेष पदार्थोंको ही मानते हैं उनके वे विशेष पदार्थ भी नहीं बन सकते—सामान्यसे विशेषके सर्वथा भिन्न न होनेके कारण सामान्यके अभावमें विशेष पदार्थोंके भी अभावका प्रसंग आता है और तत्त्व सर्वथा निरुपाख्य ठहरता है । और जो अभेदवादी सांख्य सामान्यको ही एक प्रधान मानते हैं और कहते हैं कि महत्-अहङ्कारादि विशेष चूंकि सामान्य-के विना नहीं होते इस लिये वे अपना कोई अलग (पृथक्) व्यक्तित्व (अस्तित्व) नहीं रखते—अव्यक्त सामान्यके ही व्यक्तरूप हैं—उनके सकल विशेषोंका अभाव होनेपर विशेषोंके साथ अविनाभावी सामान्यके भी अभावका प्रसंग आता है और व्यक्ताऽव्यक्तात्मक भोग्यके अभाव होनेपर भोक्ता आत्माका भी असंभव ठहरता है । और इस तरह उन सांख्योंके, न चाहते हुए भी, सर्वशून्यत्वकी सिद्धि घटित होती है । व्यक्त और अव्य-क्तमें कथञ्चित् भेद माननेपर स्याद्वाद-न्यायके अनुसरणका प्रसंग आता है और तब वह वाक्य (वचन) उनका नहीं रहता जिनके आप वीरजिनेन्द्र नायक नहीं हैं । इसी तरह परस्पर निरपेक्षरूपसे सामान्य विशेष भावको माननेवाले जो यौग हैं—नैयायिक तथा वैशेषिक हैं—वे कथञ्चित् रूपसे

(परस्पर सापेक्ष) सामान्य-विशेषको न माननेके कारण व्यतीत-सामान्य-विशेष-भाववादी प्रसिद्ध ही हैं और वीरशासनसे बाह्य हैं, उनका भी तत्त्व वास्तवमें विश्वाभिलाप और अर्थ-विकल्पसे शून्य होनेके कारण गगन-कुसुमकी तरह उसी प्रकार अवस्तु ठहरता है जिस प्रकार कि व्यतीत-सामान्य-भाववादियोंका, व्यतीत-विशेष-भाववादियोंका अथवा सर्वथा शून्य-वादियोंका तत्त्व अवस्तु ठहरता है।'

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपाया-
द्गतिर्भवेत्तौ वचनीय-गम्यौ ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं
वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

'यदि कोई कहे कि शून्यस्वभावके अभावरूप सत्स्वभाव तत्त्वके माननेपर भी इन (बन्ध और मोक्ष) दोनोंकी उपायसे गति होती है—उपाय-द्वारा बन्ध और मोक्ष दोनों जाने जाते हैं—, **दोनों वचनीय हैं और गम्य हैं**—जब परार्थरूप वचन बन्ध-मोक्षकी गति का (जानकारी का) उपाय होता है तब ये दोनों 'वचनीय' होते हैं और जब स्वार्थरूप प्रत्यक्ष या अनुमान बन्ध-मोक्षकी गतिका उपाय होता है तब ये दोनों 'गम्य' होते हैं। **साथ ही, दोनों सम्बन्धी हैं**—परस्पर अविना-भाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं, बन्धके विना मोक्षकी और मोक्षके विना बन्धकी सम्भावना नहीं; क्योंकि मोक्ष बन्ध-पूर्वक होता है। और मोक्षके अभावमें बन्धको माननेपर जो पहलेसे अबद्ध है उसके पीछेसे बन्ध मानना पड़ेगा अथवा शाश्वतिक बन्धका प्रसंग आएगा। अनादि बन्ध-सन्तानकी

प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता, विरोध नज़र आता है—सर्वथा क्षणिक (अनित्य) और सर्वथा अक्षणिक (नित्य) आदिरूप मान्यताएँ विरोधको लिये हुए हैं। स्याद्वाद-शासनसे भिन्न परमतमें सत्तत्त्व बनता ही नहीं—सर्वथा क्षणिक और सर्वथा अक्षणिककी मान्यतामें दूसरी जातिके (परस्पर निरपेक्ष) अनेकान्तका दर्शन होता है, जो सदोष है अथवा वस्तुतः अनेकान्त नहीं है। सत्तत्त्व सर्वथा एकान्तात्मक है ही नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि नहीं होती।'

'(इसपर यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भले ही सत्तत्त्वकी उपलब्धि (दर्शन-प्राप्ति) न होती हो, परन्तु परपक्षके दूषणसे तो उसकी सिद्धि होती ही है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) जो यथार्थ वाच्य होता है वह दूषणरूप नहीं होता—जिसको क्षणिक-एकान्त-वादी परपक्षमें स्वयं दूषण बतलाता है उसमें यथा -वाच्यता होनेसे अथवा परपक्षकी तरह स्वपक्षमें भी उसका सद्भाव होनेसे उसे दूषणरूप नहीं कह सकते, वह दूषणाभास है। और जो दूषण परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी निराकरण करता हो वह यथार्थ वाच्य नहीं हो सकता। वास्तवमें दोनों सर्वथा एकान्तोंसे, विरोधके कारण, अनेकान्तकी निवृत्ति होती है, अनेकांतकी निवृत्तिसे क्रम और अक्रम निवृत्त होजाते हैं, क्रम-अक्रमकी निवृत्तिसे अर्थ-क्रियाकी निवृत्ति हो जाती है—क्रम-अक्रमके विना कहीं भी अर्थ-क्रियाकी उपलब्धि नहीं होती—और अर्थ-क्रियाकी निवृत्ति होनेपर वस्तुतत्त्वकी व्य-वस्था नहीं बनती; क्योंकि वस्तुतत्त्वकी अर्थ-क्रियाके साथ व्याप्ति है। और इसलिये सर्वथा एकान्तमें सत्तत्त्व की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती।'

उपेय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता-वद्-
उपाय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात्।
अशेष-तत्त्वाऽनभिलाप्यतायां
द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

'(हे वीर जिन !) आपकी युक्तिकी—स्याद्वादनीतिकी—अभिलाप्यताके जो द्वेषी हैं—सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व स्वरूपादि-चतुष्टयकी (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी) अपेक्षा कथञ्चित् सत्‌रूप ही है, पररूपादि-चतुष्टयकी (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी) अपेक्षा कथञ्चित् असत्‌रूप ही है इत्यादि कथनीके साथ द्वेषभाव रखते हैं—उन द्वेषियोंकी इस मान्यतापर कि 'सम्पूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य (अवाच्य) है' उपेयतत्त्वकी अवाच्यताके समान उपायतत्त्व भी सर्वथा अवाच्य (अवक्तव्य) हो जाता है—जिस प्रकार निःश्रेयस (निर्वाण-मोक्ष) तत्त्वका कथन सर्वथा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसकी प्राप्तिके उपायभूत निर्वाणमार्गका कथन भी सर्वथा नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनोंमें परस्पर तत्त्व-विषयक कोई विशेषता नहीं है।'

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावा-
दवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि
स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

'(अशेष तत्त्व सर्वथा अवाच्य है ऐसी एकान्त मान्यता होने पर) तत्त्व अवाच्य ही है ऐसा कहना अयथाप्रतिज्ञ—प्रतिज्ञाके विरुद्ध—होजाता है; क्योंकि 'अवाच्य' इस पदमें ही वाच्यका भाव है—वह किसी बातको बतलाता है, तब तत्त्व सर्वथा अवाच्य न रहा। यदि यह कहा जाय कि तत्त्व स्वरूपसे अवाच्य ही है तो 'सर्व वचन स्वरूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध पड़ता है। और यदि यह कहा जाय कि पररूपसे तत्त्व अवाच्य ही है तो 'सर्ववचन पररूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध ठहरता है।'

[इस तरह तत्त्व न तो भावमात्र है, न अभावमात्र है, न उभयमात्र है और न सर्वथा अवाच्य है। इन चारों मिथ्याप्रवादोंका यहां तक निरसन

किया गया है। इसी निरसनके सामर्थ्यसे सदवाच्यादि शेष मिथ्याप्रवादोंका भी निरसन हो जाता है। अर्थात् न्यायकी समानतासे यह फलित होता है कि न तो सर्वथा सदवाच्य तत्त्व है, न असदवाच्य, न उभयाऽवाच्य और न अनुभयाऽवाच्य।]

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं वा-
ऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन।
युक्तं प्रतिद्वन्द्व्यनुबन्धि-मिश्रं
न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥३०॥

'कोई वचन सत्याऽनृत ही है, जो प्रतिद्वन्द्वीसे मिश्र है—जैसे शाखापर चन्द्रमाको देखो, इस वाक्यमें 'चन्द्रमाको देखो' तो सत्य है और 'शाखापर' यह वचन विसंवादी होनेसे असत्य है। दूसरा कोई वचन अनृताऽनृत ही है, जो अनुबन्धिसे मिश्र है—जैसे पर्वतपर चन्द्र-युगलको देखो, इसमें 'चन्द्रयुगल' वचन जिस तरह असत्य है उसी तरह 'पर्वतपर' यह वचन भी विसंवादि-ज्ञानपूर्वक होनेसे असत्य है। इस प्रकार हे वीर जिन! आप स्याद्वादीके विना वस्तुके अति-शायनसे—सर्वथा प्रकारसे अभिधेयके निर्देश-द्वारा—प्रवर्तमान जो वचन है वह क्या युक्त है?—युक्त नहीं है। (क्योंकि) स्याद्वादसे शून्य इस प्रकारका अनेकान्त वास्तविक नहीं है—वह सर्वथा एकान्त है और सर्वथा एकान्त अवस्तु होता है।'

सह-क्रमाद्वा विषयाऽल्प-भूरि-
भेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात्।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च
स्याच्चाऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥३१॥

'विषय (अभिधेय) का अल्प-भूरि भेद—अल्पाऽनल्प विकल्प—

होनेपर अनृत (असत्य) भेदवान् होता है—जैसे जिस वचनमें अभिधेय अल्प असत्य और अधिक सत्य हो उसे 'सत्याऽनृत' कहते हैं, इसमें सत्य विशेषणसे अनृतको भेदवान् प्रतिपादित किया जाता है। और जिस वचनका अभिधेय अल्प सत्य और अधिक असत्य हो उसे 'अनृताऽनृत' कहते हैं, इसमें अनृत विशेषणसे अनृतको भेदरूप प्रतिपादित किया जाता है। आत्मभेदसे अनृत भेदवान् नहीं होता—क्योंकि सामान्य अनृतात्माके द्वारा भेद घटित नहीं होता। अनृतका जो आत्मान्तर—आत्मविशेष लक्षण—है वह भेद-स्वभावको लिये हुए है—विशेषणके भेदसे, और सम (अभेद) स्वभावको लिये हुए है—विशेषणभेदके अभावसे। साथ ही ('च' शब्दसे) उभयस्वभावको लिये हुए है—हेतुद्वयके अर्पणाक्रमकी अपेक्षा। (इसके सिवाय) अनृतात्मा अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) को प्राप्त है—एक साथ दोनों धर्मोंका कहा जाना शक्य न होने के कारण; और (द्वितीय 'च' शब्दके प्रयोगमें) भेदि अनभिलाप्य, अभेदि-अनभिलाप्य और उभय (भेदाऽभेदि) अनभिलाप्यरूप भी वह है—अपने अपने हेतुकी अपेक्षा। इसतरह अनृतात्मा अनेकान्तदृष्टिसे भेदाऽभेदकी सप्तभंगीको लिये हुए है।'

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक-
मात्मान्तरं सर्व-निषेध-गम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि-भेदात्
स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥३२॥

'तत्त्व न तो सन्मात्र—सत्ताद्वैतरूप—है और न असन्मात्र—सर्वथा अभावरूप—है; क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता—किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध न होनेके कारण उसका होना असम्भव है। इसी तरह (सत् असत्, एक, अनेकादि) सर्वधर्मोंके निषेधका विषयभूत कोई एक आत्मान्तर—

उत्पन्न होता है; क्योंकि उसीसे यह धर्मी है यह धर्म है ऐसे धर्मि-धर्म-व्यवहारकी प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः सकल कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्षके द्वारा निरंश स्वलक्षणका जो अदर्शन बतलाया जाता है वह असिद्ध है, तब ऐसे असिद्ध अदर्शन साधनसे उस निरंश वस्तुका अभाव कैसे सिद्ध किया जासकता है? तो इस बौद्ध प्रश्नका उत्तर यह है कि—)

'जो प्रत्यक्षके द्वारा निर्देशको प्राप्त (निर्दिष्ट होनेवाला) हो—प्रत्यक्ष ज्ञानसे देखकर 'यह नीलादिक है' इस प्रकारके वचन-विना ही अंगुलीसे जिसका प्रदर्शन किया जाता हो—ऐसा तत्त्व भी असिद्ध है; क्योंकि जो प्रत्यक्ष अकल्पक है—सभी कल्पनाओंसे रहित निर्विकल्पक है—वह दूसरोंको (संशयित-विनेयों अथवा संदिग्ध-व्यक्तियोंको) तत्त्वके बतलाने-दिखलानेमें किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है। (इसके सिवाय) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी असिद्ध है; क्योंकि (किसी भी प्रमाण-के द्वारा) उसका ज्ञापन अशक्य है। प्रत्यक्षप्रमाणसे तो वह इसलिये ज्ञापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह परप्रत्यक्षके द्वारा असंवेद्य है। और अनुमान प्रमाणके द्वारा भी उसका ज्ञापन नहीं बनता; क्योंकि उस प्रत्यक्षके साथ अविनाभावी लिङ्ग (साधन) का ज्ञान असंभव है—दूसरे लोग जिन्हें लिङ्ग-लिङ्गीके सम्बन्धका ग्रहण नहीं हुआ उन्हें अनुमानके द्वारा उसे कैसे बतलाया जा सकता है? नहीं बतलाया जा सकता। और जो स्वयं प्रतिपन्न है—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा उसके अविनाभावी लिङ्गको जानता है—उसके निर्विकल्पक प्रत्यक्षका ज्ञापन करानेके लिये अनुमान निरर्थक है। समारोपादिकी—भ्रमोत्पत्ति और अनुमानके द्वारा उसके व्यवच्छेदकी—बात कहकर उसे सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्धसे जो स्वयं अभिज्ञ है उसके तो समारोपका होना ही असंभव है और जो अभिज्ञ नहीं है उसके साध्य-साधन-सम्बन्धका ग्रहण ही सम्भव नहीं है, और इसलिये गृहीतकी विस्मृति जैसी कोई बात नहीं बन सकती। इस तरह अकल्पक प्रत्यक्षका कोई ज्ञापक न होनेसे उसकी व्यवस्था नहीं बनती; तब उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? और

जब उसकी ही सिद्धि नहीं तब उसके द्वारा निर्दिष्ट होनेवाले निरंश वस्तु-तत्त्वकी सिद्धि कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती। अतः दोनों ही असिद्ध ठहरते हैं।'

'प्रत्यक्षकी सिद्धिके बिना उसका लक्षणार्थ भी नहीं बन सकता—'जो ज्ञान कल्पनासे रहित है वह प्रत्यक्ष है' ('प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्')। ऐसा बौद्धोंके द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यक्ष-लक्षण-का जो अर्थ प्रत्यक्षका बोध कराना है वह भी घटित नहीं हो सकता। अतः हे वीर भगवन् ! आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वादशासनका जो द्वेषी है— सर्वथा सत् आदिरूप एकान्तवाद है—उसमें सत्य घटित नहीं होता—एकान्ततः सत्यको सिद्ध नहीं किया जा सकता।'

> **कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वा-**
> **ऽपृथक्पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम् ।**
> **विकारहाने र्न च कर्तृ कार्ये**
> **वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते ॥३४॥**

'पदार्थके कालान्तरस्थायी होने पर—जन्मकालसे अन्यकालमें ज्योंका त्यों अपरिणामी रूपसे अवस्थित रहने पर—, चाहे वह अभिन्न हो भिन्न हो या अनिर्वचनीय हो, कर्ता और कार्य दोनों भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थके सर्वथा क्षणिक (अनित्य) अथवा ध्रुव (नित्य) होने पर नहीं बनते[1]; क्योंकि तब विकारकी निवृत्ति होती है—विकार परिणामको कहते हैं, जो स्वयं अवस्थित द्रव्यके पूर्वाकारके परित्याग, स्वरूपके अत्याग और उत्तरोत्तराकारके उत्पादरूप होता है। विकारकी निवृत्ति क्रम और अक्रमको निवृत्त करती है; क्योंकि क्रम-अक्रमकी विकारके साथ व्याप्ति (अविनाभाव

१. देखो, इसी ग्रन्थकी कारिका ८, १२ आदि तथा देवागम कारिका ३७, ४१ आदि।

सम्बन्धकी प्राप्ति) है। क्रम-अक्रमकी निवृत्ति क्रियाको निवृत्त करती है; क्योंकि क्रियाके साथ उनकी व्याप्ति है। क्रियाका अभाव होने पर कोई कर्त्ता नहीं बनता; क्योंकि क्रियाधिष्ठ स्वतंत्र द्रव्यके ही कर्तृत्वकी सिद्धि होती है। और कर्ताके अभावमें कार्य नहीं बन सकता—स्वयं समीहित स्वर्गाऽपवर्गादिरूप किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। (अतः) हे **वीर जिन ! आपके द्वेषियोंका**—आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-शासनसे द्वेष रखनेवाले (बौद्ध, वैशेषिक, नैय्यायिक, सांख्य आदि) सर्वथा एकान्तवादियोंका—**यह श्रम**—स्वर्गाऽपवर्गादिकी प्राप्तिके लिये किया गया यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदिरूप संपूर्ण दृश्यमान तपोलक्षण प्रयास—**व्यर्थ है**—उससे सिद्धान्ततः कुछ भी साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।'

[यहां तकके इस सब कथन-द्वारा आचार्य महोदय स्वामी समन्तभद्रने अन्य सब प्रधान प्रधान मतोंको सदोष सिद्ध करके 'समन्तदोषं मतमन्यदीयम्' इस आठवीं कारिकागत अपने वाक्यको समर्थित किया है; साथ ही, 'त्वदीयं मतमद्वितीयम्' (आपका मत—शासन—अद्वितीय है) इस छठी कारिकागत अपने मन्तव्यको प्रकाशित किया है। और इन दोनोंके द्वारा 'त्वमेव महान् इतीयत्प्रतिवक्तुमीशाः वयम्' ('आप ही महान् हैं' इतना बतलानेके लिये हम समर्थ हैं) इस चतुर्थ कारिकागत अपनी प्रतिज्ञाको सिद्ध किया है।]

मद्याङ्गवद्भूत-समागमे ज्ञः
शक्त्यन्तर-व्यक्तिरदैव-सृष्टिः।
इत्यात्म-शिश्नोदर-पुष्टि-तुष्टै-
र्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

'जिस प्रकार **मद्याङ्गोंके**—मद्यके अंगभूत पिष्टोदक, गुड, धातकी आदिके—**समागम** (समुदाय) पर मदशक्तिकी उत्पत्ति अथवा आवि-

भूति होती है उसी तरह भूतोंके—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वोंके—समागमपर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है—वह कोई जुदा तत्त्व नहीं है, उन्हींका सुख-दुःख-हर्ष-विषाद-विवर्त्तात्मक स्वाभाविक परिणामविशेष है। और यह सब शक्तिविशेषकी व्यक्ति है, कोई दैव-सृष्टि नहीं है। इस प्रकार यह जिनका—कार्यवादी अविद्धकर्णादि तथा अभिव्यक्तिवादी पुरन्दरादि चार्वाकोंका—सिद्धांत है उन अपने शिश्न (लिङ्ग) तथा उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले निर्लज्जों तथा निर्भयोंके द्वारा हा! कोमलबुद्धि—भोले मनुष्य—ठगे गये हैं!!'

व्याख्या—यहां स्तुतिकार स्वामी समन्तभद्रने उन चार्वाकोंकी प्रवृत्ति पर भारी खेद व्यक्त किया है जो अपने लिङ्ग तथा उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहते हैं—उसीको सब कुछ समझते हैं; 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' यह जिनका प्रमुख सिद्धांत है; जो मांस खाने, मदिरा पीने तथा चाहे जिससे—माता, बहिन, पुत्रीसे भी—कामसेवन (भोग) करनेमें कोई दोष नहीं देखते; जिनकी दृष्टिमें पुण्य-पाप और उनके कारण शुभ-अशुभ कर्म कोई चीज़ नहीं; जो परलोकको नहीं मानते, जीवको भी नहीं मानते और अपरिपक्वबुद्धि भोले जीवोंको यह कह कर ठगते हैं कि—'जाननेवाला जीव कोई जुदा पदार्थ नहीं है, पृथ्वी जल अग्नि और वायु ये चार मूल तत्त्व अथवा भूत पदार्थ हैं, इनके संयोगसे शरीर-इन्द्रिय तथा विषय-संज्ञाकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है और इन शरीर-इन्द्रिय-विषयसंज्ञासे चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है। इस तरह चारों भूत चैतन्यके परम्परा कारण हैं और शरीर इन्द्रिय तथा विषयसंज्ञा ये तीनों एक साथ उसके साक्षात् कारण हैं। यह चैतन्य गर्भसे मरण-पर्यन्त रहता है और उन पृथ्वी आदि चारों भूतोंका उसी प्रकार शक्तिविशेष है जिस प्रकार कि मद्यके अंगरूप पदार्थोंका (आटा-मिला जल, गुड़ और धातकी आदिका) शक्तिविशेष मद (नशा) है। और जिस प्रकार मदको उत्पन्न करनेवाले शक्तिविशेषकी व्यक्ति कोई दैवकृत-सृष्टि नहीं देखी जाती बल्कि मद्यके अंगभूत असाधारण और साधारण पदार्थोंका समागम होने पर स्वभावसे

ही वह होती है उसी प्रकार ज्ञानके हेतुभूत शक्तिविशेषकी व्यक्ति भी किसी दैवसृष्टिका परिणाम नहीं है बल्कि ज्ञानके कारण जो असाधारण और साधारण भूत (पदार्थ) हैं उनके समागमपर स्वभावसे ही वह होती है। अथवा हरीतकी (हरड़) आदिमें जिस प्रकार विरेचन (जुलाब) की शक्ति स्वाभाविकी है—किसी देवताको प्राप्त होकर हरीतकी विरेचन नहीं करती है—उसी प्रकार इन चारों भूतोंमें भी चैतन्यशक्ति स्वाभाविकी है। हरीतकी यदि कभी और किसीको विरेचन नहीं करती है तो उसका कारण या तो हरीतकी आदि योगके पुराना हो जानेके कारण उसकी शक्तिका जीर्ण-शीर्ण हो जाना होता है और या उपयोग करनेवालेको शक्तिविशेषकी अप्रतीति उसका कारण होती है। यही बात चारों भूतोंका समागम होनेपर भी कभी और कहीं चैतन्यशक्तिकी अभिव्यक्ति न होनेके विषयमें समझना चाहिये। इस तरह जब चैतन्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं और चारों भूतोंकी शक्ति-विशेषके रूपमें जिस चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है वह मरणपर्यन्त ही रहता है—शरीरके साथ उसकी भी समाप्ति हो जाती है—तब परलोकमें जानेवाला कोई नहीं बनता। परलोकीके अभावमें परलोकका भी अभाव ठहरता है, जिसके विषयमें नरकादिका भय दिखलाया जाता तथा स्वर्गादिकका प्रलोभन दिया जाता है। और दैव (भाग्य) का अभाव होनेसे पुण्य-पाप कर्म तथा उनके साधन शुभ-अशुभ अनुष्ठान कोई चीज नहीं रहते—सब व्यर्थ ठहरते हैं। और इस लिये लोक-परलोकके भय तथा लज्जाको छोड़कर यथेष्ट रूपमें प्रवर्तना चाहिये—जो जीमें आवे वह करना तथा खाना-पीना चाहिये। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि 'तपश्चरण तो नाना प्रकारकी कोरी यातनाएँ हैं, संयम भोगोंका वंचक है और अग्निहोत्र तथा पूजादिक कर्म बच्चोंके खेल हैं"[1], इन सबमें कुछ भी नहीं धरा है।'

इस प्रकारके ठगवचनों-द्वारा जो लोग भोले जीवोंको ठगते हैं—पाप

[1] "तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचकः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते॥"

लिये उस सत् तथा अकारणरूप मदशक्तिके साथ हेतुका विरोध है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वह मदशक्ति भी कथञ्चिन्नित्य है और उसका कारण यह है कि चेतनद्रव्यके ही मदशक्तिका स्वभावपना है, सर्वथा अचेतनद्रव्योंमें मदशक्तिका होना असम्भव है; इसीसे द्रव्यमन तथा द्रव्येन्द्रियोंके, जो कि अचेतन हैं, मदशक्ति नहीं बन सकती--भावमन और भावेन्द्रियोंके ही, जो कि चेतनात्मक हैं, मदशक्तिकी सम्भावना है। यदि अचेतन द्रव्य भी मदशक्तिको प्राप्त होवे तो मद्यके भाजनों अथवा शराबकी बोतलोंको भी मद अर्थात् नशा होना चाहिये और उनकी भी चेष्टा शराबियों जैसी होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः चेतनद्रव्यमें मदशक्तिकी अभिव्यक्तिका बाह्य कारण मद्यादिक और अन्तरङ्ग कारण मोहनीय कर्मका उदय है—मोहनीयकर्मके उदय-विना बाह्यमें मद्यादिका संयोग होते हुए भी मदशक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। चुनाँचे मुक्तात्माओंमें दोनों कारणोंका अभाव होनेसे मदशक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं बनती। और इसलिये मदशक्तिके द्वारा उक्त सद्-कारणत्व, हेतुमें व्यभिचार दोष घटित नहीं हो सकता, वह चैतन्यशक्तिका नित्यत्व सिद्ध करनेमें समर्थ है। चैतन्यशक्तिका नित्यत्व सिद्ध होनेपर परलोकी और परलोकादि सब सुघटित होते हैं। जो लोग परलोकीको नहीं मानते उन्हें यह नहीं कहना चाहिए कि 'पहलेसे सत्‌रूपमें विद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है।'

यदि यह कहा जाय कि अविद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है तो यह प्रतीतिके विरुद्ध है; क्योंकि जो सर्वथा असत् हो ऐसी किसी भी चीज़की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। और यदि यह कहा जाय कि कथञ्चित् सत्‌रूप तथा कथंचित् असत्‌रूप शक्ति ही अभिव्यक्त होती है तो इससे परमतकी—स्याद्वाद शासनकी—सिद्धि होती है; क्योंकि स्याद्वादियोंको उस चैतन्यशक्तिकी कायाकार–परिणत–पुद्गलोंके द्वारा अभिव्यक्ति अभीष्ट है जो द्रव्यदृष्टिसे सत्‌रूप होते हुए भी पर्यायदृष्टिसे असत् बनी हुई है। और इसलिये सर्वथा चैतन्यकी अभिव्यक्ति प्रमाण-बाधित है, जो

उसका जैसे तैसे वंचक-वचनोंके रूपमें प्रतिपादन करते हैं उन चार्वाकोंके द्वारा सुकुमारबुद्धि मनुष्य निःसन्देह ठगाये जाते हैं।

इसके सिवाय, जिन चार्वाकोंने चैतन्यशक्तिको भूतसमागमका कार्य माना है उनके यहां सर्व चैतन्य शक्तियोंमें अविशेषका प्रसङ्ग उपस्थित होता है—किसी प्रकारका विशेष न रहनेसे प्रत्येक प्राणीमें बुद्धि आदिका कोई विशेष (भेद) नहीं बनता। और विशेष पाया जाता है अतः उनकी उक्त मान्यता सदोष एवं मिथ्या है। इसी बातको अगली कारिकामें व्यक्त किया गया है।

दृष्टेऽविशिष्टे जननादि-हेतौ
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धि-
रतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥

'जब जननादि हेतु—चैतन्यकी उत्पत्ति तथा अभिव्यक्तिका कारण पृथिवी आदि भूतोंका समुदाय—अविशिष्ट देखा जाता है—उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती और दैवसृष्टि (भाग्यनिर्माणादि) को अस्वीकार किया जाता है—तब इन (चार्वाकों) के प्राणि प्राणिके प्रति क्या विशेषता बन सकती है?—कारणमें विशिष्टताके न होनेसे भूत-समागमकी और तज्जन्य अथवा तदभिव्यक्त चैतन्यकी कोई भी विशिष्टता नहीं बन सकती; तब इस दृश्यमान बुद्ध्यादि चैतन्यके विशेषको किस आधारपर सिद्ध किया जायगा? कोई भी आधार उसके लिये नहीं बनता।'

'(इसपर) यदि उस विशिष्टताकी सिद्धि स्वभावसे ही मानी जाय तो फिर चारों भूतोंसे भिन्न पाँचवें आत्मतत्त्वकी सिद्धि स्वभावसे क्यों नहीं मानी जाय?—उसमें क्या बाधा आती है और इसे न मान कर 'भूतोंका कार्य चैतन्य' माननेसे क्या नतीजा, जो किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता? क्योंकि यदि कायाकार-परिणत भूतोंका

कार्य होनेसे चैतन्यकी स्वभावसे सिद्धि है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथ्वी आदि भूत उस चैतन्यके उपादान कारण हैं या सहकारी कारण? यदि उन्हें उपादान कारण माना जाय तो चैतन्यके भूतान्वित होनेका प्रसंग आता है—अर्थात् जिस प्रकार सुवर्णके उपादान होनेपर मुकट, कुंडलादिक पर्यायोंमें सुवर्णका अन्वय (वंश) चलता है तथा पृथ्वी आदिके उपादान होनेपर शरीरमें पृथ्वी आदिका अन्वय चलता है उसी प्रकार भूतचतुष्टयके उपादान होने पर चैतन्यमें भूतचतुष्टयका अन्वय चलना चाहिये—उन भूतोंका लक्षण उसमें पायाजाना चाहिये। क्योंकि उपादान द्रव्य वही कहलाता है जो त्यक्ताऽत्यक्त–आत्मरूप हो, पूर्वाऽपूर्वके साथ वर्तमान हो और त्रिकालवर्ती जिसका विषय हो [१]। परन्तु भूतसमुदाय ऐसा नहीं देखा जाता कि जो अपने पहले अचेतनाकारका त्याग करके चेतनाकारको ग्रहण करता हुआ भूतोंके धारण–ईरण–द्रव–उष्णता-लक्षण स्वभावसे अन्वित (युक्त) हो। क्योंकि चैतन्य धारणादि भूतस्वभावसे रहित जाननेमें आता है और कोई भी पदार्थ अत्यन्त विजातीय कार्य करता हुआ प्रतीत नहीं होता। भूतोंका धारणादि–स्वभाव और चैतन्य (जीव) का ज्ञान-दर्शनापयोग-लक्षण दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण एवं विजातीय हैं। अतः अचेतनात्मक भूतचतुष्टय अत्यन्त विजातीय चैतन्यका उपादान कारण नहीं बन सकता—दोनोंमें उपादानोपादेयभाव संभव ही नहीं। और यदि भूतचतुष्टयको चैतन्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण माना जाय तो फिर उपादान कारण कोई और बतलाना होगा; क्योंकि बिना उपादानके कोई भी कार्य संभव नहीं। जब दूसरा कोई उपादान कारण नहीं और उपादान तथा सहकारी कारणसे भिन्न तीसरा भी कोई कारण ऐसा नहीं जिससे, भूत चतुष्टयको चैतन्यका जनक स्वीकार किया जा सके, तब चैतन्यकी स्वभावसे ही भूतविशेषकी तरह तत्त्वान्तरके रूपमें सिद्धि होती है। इस तत्त्वा-

---

१ " त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वाऽपूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥"

न्तर-सिद्धिको न माननेवाले जो अतावक हैं—दर्शनमोहके उदयसे आकुलित-चित्त हुए आप वीर जिनेन्द्रके मतसे बाह्य हैं—उन (जीविका-मात्र-तन्त्र-विचारकों) का भी हाय ! यह कैसा प्रपतन हुआ है, जो उन्हें संसार समुद्रके आवर्तमें गिराने वाला है !!'

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचार-पथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-
स्त्वद्दृष्टि-बाह्या बत ! विभ्रमन्ते ॥३७॥

'स्वभावसे ही जगतकी स्वच्छन्द-वृत्ति—यथेच्छ प्रवृत्ति—है, इस लिये जगत्के ऊँचे दर्जेके अनाचारमार्गोंमें—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह नामके पाँच महापापोंमें—भी कोई दोष नहीं, ऐसी घोषणा करके—उनके अनुष्ठान-जैसी सदोष प्रवृत्तिको निर्दोष बतलाकर—जो लोग दीक्षाके समकाल ही मुक्तिको मानकर अभिमानी हो रहे हैं—सहजग्राह्य-हृदयमें मन्त्रविशेषारोपणके समय ही मुक्ति हो जाने (मुक्तिका सर्टिफिकेट मिल जाने) का जिन्हें अभिमान है—अथवा दीक्षाका निरास जैसे बने वैसे (दीक्षानुष्ठानका निवारण करनेके लिये) मुक्तिको जो (मीमांसक) अमान्य कर रहे हैं और मांस-भक्षण, मदिरापान तथा मैथुनसेवन-जैसे अनाचारके मार्गोंके विषय-में स्वभावसे ही जगत्की स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हेतु बताकर यह घोषणा कर रहे हैं कि इसमें कोई दोष नहीं है[1] वे सब (हे वीर जिन !) आपकी दृष्टिसे—बन्ध, मोक्ष और तत्कारण-निश्चयके निबन्धनस्वरूप आपके स्याद्वाददर्शनसे—बाह्य हैं और (सर्वथा एकान्तवादी होनेसे) केवल विभ्रममें पड़े हुए हैं—तत्त्वके निश्चयको प्राप्त नहीं होते—यह बड़े ही खेद अथवा कष्टका विषय है !!'

---

१ "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।"

व्याख्या— इस कारिकामें 'दीक्षासममुक्तिमानाः' पद दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है[1]। एक अर्थमें उन मान्त्रिकोंका (मन्त्रवादियोंका) ग्रहण किया गया है जो मन्त्र-दीक्षाके समकाल ही अपनेको मुक्त हुआ समझ कर अभिमानी बने रहते हैं, अपनी दीक्षाको यम-नियम-रहित होते हुए भी अनाचारकी क्षयकारिणी समर्थदीक्षा मानते हैं और इस लिये बड़ेसे-बड़े अनाचार—हिंसादिक घोर पाप—करते हुए भी उसमें कोई दोष नहीं देखते—कहते हैं 'स्वभावसे ही यथेच्छ प्रवृत्ति होनेके कारण बड़ेसे-बड़े अनाचारके मार्ग भी दोषके कारण नहीं होते और इसलिये उन्हें उनका आचरण करते हुए भी प्रसिद्ध जीवन्मुक्तकी तरह कोई दोष नहीं लगता।' दूसरे अर्थमें उन मीमांसकोंका ग्रहण किया गया है जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न अनन्तज्ञानादिरूप मुक्तिका होना नहीं मानते, यम-नियमादिरूप दीक्षा भी नहीं मानते और स्वभावसे ही जगतके भूतों (प्राणियों) की स्व-च्छन्द-प्रवृत्ति बतलाकर मांसभक्षण, मदिरापान और यथेच्छ मैथुनसेवन-जैसे अनाचारोंमें कोई दोष नहीं देखते। साथ ही, वेद-विहित पशुवधादि ऊँचे दर्जेके अनाचार मार्गोंको भी निर्दोष बतलाते हैं, जबकि वेद-बाह्य ब्रह्महत्यादिको निर्दोष न बतलाकर सदोष ही घोषित करते हैं। ऐसे सब लोग वीर-जिनेन्द्रकी दृष्टि अथवा उनके बतलाये हुए सन्मार्गसे बाह्य हैं, ठीक तत्त्वके निश्चयको प्राप्त न होनेके कारण सदोषको निर्दोष मानकर विभ्रममें पड़े हुए हैं और इसी लिये आचार्यमहोदयने उनकी इन दूषित प्रवृत्तियों-पर खेद व्यक्त किया है और साथ ही यह सूचित किया है कि हिंसादिक महा अनाचारोंके जो मार्ग हैं वे सब सदोष हैं—उन्हें निर्दोष सिद्ध नहीं किया जा सकता, चाहे वे वेदादि किसी भी आगमविहित हों या अनागम-विहित हों।

---

१ "दीक्षया समासमकाला दीक्षासमा सा चासौ मुक्तिश्च सा दीक्षासमा मुक्तिस्तस्यां मानोऽभिमानो येषां ते दीक्षासममुक्तिमानाः। अथवा दीक्षाऽसं यथा भवत्येवममुक्तिं मन्यमाना मीमांसकाः।" —इति विद्यानन्दः

प्रवृत्ति-रक्तैः शम-तुष्टि-रिक्तै-
रुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्ग-निष्ठा ।
प्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं
तमः परेषां तव सुप्रभातम् ॥३८॥

'जो लोग शम और तुष्टिसे रिक्त हैं—क्रोधादिककी शान्ति और सन्तोष जिनके पास नहीं फटकते—(और इस लिये) प्रवृत्ति-रक्त हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहमें कोई प्रकारका नियम अथवा मर्यादा न रखकर उनमें प्रकर्षरूपसे प्रवृत्त अथवा आसक्त हैं—उन (यज्ञवादी मीमांसकों) के द्वारा, प्रवृत्तिको स्वयं अपनाकर, 'हिंसा अभ्युदय (स्वर्गादिकप्राप्ति) के हेतुकी आधारभूत है' ऐसी जो मान्यता प्रचलित की गई है वह उनका बहुत बड़ा अन्धकार है—अज्ञानभाव है। इसी तरह (वेदविहित पशुवधादिरूप) प्रवृत्तिसे शान्ति होती है ऐसी जो मान्यता है वह भी (स्याद्वादमतसे बाह्य) दूसरोंका घोर अन्धकार है—क्योंकि प्रवृत्ति रागादिकके उद्रेकरूप अशान्तिकी जननी है न कि अरागादिरूप शान्तिकी। (अतः हे वीरजिन !) आपका मत ही (सकल-अज्ञान-अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ होनेसे) सुप्रभातरूप है, ऐसा सिद्ध होता है।'

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखै-
र्देवान् किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः ।
सिद्ध्यन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा
युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

'जीवात्माके लिये दुःखके निमित्तभूत जो शीर्षोपहारादिक हैं—अपने तथा बकरे आदिके सिरकी बलि चढ़ाना, गुग्गुल धारण करना, मकरको भोजन कराना, पर्वतपरसे गिरना जैसे कृत्य हैं—उनके द्वारा (यक्ष-महेश्वरादि) देवोंकी आराधना करके ठीक वे ही लोग सिद्ध होते हैं—

अपनेको सिद्ध समझते तथा घोषित करते हैं—**जो दोषोंके अपचय** (विनाश) की **अपेक्षा नहीं रखते**—सिद्ध होनेके लिये राग-द्वेषादि-विकारोंको दूर करनेकी जिन्हें पर्वाह नहीं है—**और सुखाभिगृद्ध हैं**—काम-सुखादिके लोलुपी हैं!! **और यह** (सिद्धिकी मान्यतारूप प्ररूढ अन्धकार) **उन्हींके युक्त है जिनके हे वीरजिन! आप ऋषि-गुरु नहीं हैं!!**—अर्थात् इस प्रकारकी घोर अज्ञानताको लिये हुए अन्धेरगर्दी उन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके यहां चलती है जो आप जैसे वीतदोष-सर्वज्ञ-स्वामीके उपासक नहीं हैं। (फलतः) जो शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए आप जैसे देवके उपासक हैं—आपको अपना गुरु-नेता मानते हैं—(और इसलिये) जो हिंसादिकसे विरक्तचित्त हैं, दया-दम-त्याग-समाधिकी तत्परताको लिये हुए आपके अद्वितीय शासन (मत) को प्राप्त हैं और नय-प्रमाण-द्वारा विनिश्चित परमार्थकी एवं यथावस्थित जीवादि-तत्त्वार्थोंकी प्रतिपत्तिमें कुशलमना हैं, उन सम्यग्दृष्टियोंके इस प्रकारकी मिथ्या-मान्यतारूप अन्धेरगर्दी (प्ररूढतमता) नहीं बनती; क्योंकि प्रमादसे अथवा अशक्तिके कारण कहीं हिंसादिकका आचरण करते हुए भी उसमें उनके मिथ्या-अभिनिवेशरूप पाशके लिये अवकाश नहीं होता—वे उससे अपनी सिद्धि अथवा आत्मभलाईका होना नहीं मानते।'

[यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासन स्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी परकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये [1]]।

---

१ स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
संप्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम्।
निर्णीतं मतमद्वितीय-ममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम्॥—इति विद्यानन्दः

सामान्य-निष्ठा विविधा विशेषाः
पदं विशेषान्तर-पक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्त-वृत्तितोऽन्यत्-
समानभावं नयते विशेषम् ॥४०॥

'(७ वीं कारिकामें 'अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं' इस वाक्यके द्वारा यह बतलाया गया है कि वीरशासनमें वस्तुतत्त्वको सामान्य-विशेषात्मक माना गया है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि जो विशेष हैं वे सामान्यमें निष्ठ (परिसमाप्त) हैं या सामान्य विशेषोंमें निष्ठ हैं अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्परमें निष्ठ हैं ? इसका उत्तर इतना ही है कि) जो विविध विशेष हैं वे सब सामान्यनिष्ठ हैं—अर्थात् एक द्रव्यमें रहने वाले क्रम-भावी और सहभावीके भेद-प्रभेदको लिये हुए जो परिस्पन्द और अपरिस्पन्द-रूप नाना प्रकारके पर्याय[1] हैं वे सब एक द्रव्यनिष्ठ होनेसे ऊर्ध्वता-सामान्य[2] में परिसमाप्त हैं। और इसलिये विशेषोंमें निष्ठ सामान्य नहीं है; क्योंकि तब किसी विशेष (पर्याय) के अभाव होनेपर सामान्य (द्रव्य) के भी अभाव का प्रसंग आयेगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है—किसी भी विशेषके नष्ट होनेपर

---

१. क्रमभावी पर्यायें परिस्पन्दरूप हैं; जैसे उत्क्षेपणादिक। सहभावी पर्यायें अपरिस्पन्दात्मक हैं और वे साधारण, साधारणाऽसाधारण और असाधारणके भेदसे तीन प्रकार हैं। सत्व-प्रमेयत्वादिक साधारण धर्म हैं, द्रव्यत्व-जीवत्वादिक साधारणाऽसाधारण धर्म हैं और वे अर्थ पर्यायें असाधारण हैं जो द्रव्य-द्रव्यके प्रति प्रभिद्यमान और प्रतिनियत हैं।

२. सामान्य दो प्रकारका होता है—एक ऊर्ध्वतासामान्य दूसरा तिर्यक्-सामान्य। क्रमभावी पर्यायोंमें एकत्वान्वयज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो द्रव्य है वह ऊर्ध्वतासामान्य है और नाना द्रव्यों तथा पर्यायोंमें सादृश्यज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो सदृशपरिणाम है वह तिर्यक् सामान्य है।

अनुक्त-तुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्यभावान्नियम-द्वयेऽपि ।
पर्याय-भावेऽन्यतरप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्म-हीनम् ॥४२॥

'जो पद एवकारसे रहित है वह अनुक्ततुल्य है—न कहे हुएके समान है—क्योंकि उससे (कर्तृ-क्रिया-विषयक) नियम-द्वयके इष्ट होनेपर भी व्यावृत्तिका अभाव होता है—निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जानेसे प्रतिपक्षकी निवृत्ति नहीं बन सकती—तथा (व्यावृत्तिका अभाव होने अथवा प्रतिपक्षकी निवृत्ति न हो सकनेसे) पदोंमें परस्पर पर्यायभाव ठहरता है, पर्यायभावके होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें-से भी चाहे जिस पदका कोई प्रयोग कर सकता है और चाहे जिस पदका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्यसे च्युत—प्रतियोगीसे रहित—होजाता है और जो प्रतियोगीसे रहित होता है वह आत्महीन होता है—अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता। इस तरह भी पदार्थकी हानि ठहरती है।'

यदेवकारोपहितं पदं तद्-
अस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्याय-सामान्य-विशेष-सर्वं
पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

'जो पद एवकारसे उपहित है—अवधारणार्थक 'एव' नामके निपातसे विशिष्ट है, जैसे 'जीव एव' (जीव ही)—वह अस्वार्थसे स्वार्थको (अजीवत्वसे जीवत्वको) [जैसे] अलग करता है—अस्वार्थ (अजीवत्व) का व्यवच्छेदक है—[वैसे] सब स्वार्थपर्यायों (सुख-ज्ञानादिक), सब स्वार्थसामान्यों (द्रव्यत्व-चेतनत्वादि) और सब स्वार्थ-विशेषों (अभिधानाऽविषयभूत अनन्त अर्थपर्यायों) सभीको अलग करता है—उन सबका भी व्यच्छेदक है; अन्यथा उस एक पदसे ही उनका भी बोध होना चाहिये, उनके लिये अलग-अलग पदोंका प्रयोग (जैसे मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ, द्रव्य हूं, चेतन हूँ, इत्यादि) व्यर्थ ठहरता है—और इससे (उन क्रमभावी धर्मों–पर्यायों, सहभावी धर्मों–सामान्यों तथा अनभिधेय धर्मों–अनन्त अर्थ-पर्यायोंका व्यवच्छेद—अभाव—होनेपर) पदार्थकी (जीवपदके अभिधेयरूप जीवत्वकी) भी हानि उसी प्रकार ठहरती है जिस प्रकार कि विरोधी (अजीवत्व) की हानि होती है—क्योंकि स्वपर्यायों आदिके अभावमें जीवादि कोई भी अलग वस्तु संभव नहीं हो सकती।'

(यदि यह कहा जाय कि एवकारसे विशिष्ट 'जीव' पद अपने प्रतियोगी 'अजीव' पदका ही व्यवच्छेदक होता है—अप्रतियोगी स्वपर्यायों, सामान्यों तथा विशेषोंका नहीं; क्योंकि वे अप्रस्तुत–अविवक्षित होते हैं, तो ऐसा कहना एकान्तवादियोंके लिये ठीक नहीं है; क्योंकि इससे स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) के अनुप्रवेशका प्रसंग आता है, और उससे उनके एकान्त सिद्धान्तकी हानि ठहरती है।)

अनुक्त-तुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्त्यभावान्नियम-द्वयेऽपि ।
पर्याय-भावेऽन्यतरप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्म-हीनम् ॥४२॥

'जो पद एवकारसे रहित है वह अनुक्ततुल्य है—न कहे हुएके समान है—क्योंकि उससे (कर्तृ-क्रिया-विषयक) नियम-द्वयके इष्ट होनेपर भी व्यावृत्तिका अभाव होता है—निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जानेसे प्रतिपक्षकी निवृत्ति नहीं बन सकती—तथा (व्यावृत्तिका अभाव होने अथवा प्रतिपक्षकी निवृत्ति न हो सकनेसे) पदोंमें परस्पर पर्यायभाव ठहरता है, पर्यायभावके होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें-से भी चाहे जिस पदका कोई प्रयोग कर सकता है और चाहे जिस पदका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्यसे च्युत—प्रतियोगीसे रहित—होजाता है और जो प्रतियोगीसे रहित होता है वह आत्महीन होता है—अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता। इस तरह भी पदार्थकी हानि ठहरती है।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर 'अस्ति जीवः' इस वाक्यमें 'अस्ति' और 'जीवः' ये दोनों पद एवकारसे रहित हैं। 'अस्ति' पदके साथ अवधारणार्थक 'एव' शब्दके न होनेसे नास्तित्वका व्यवच्छेद नहीं बनता और नास्तित्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे 'अस्ति' पदके द्वारा नास्तित्वका भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये 'अस्ति' पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्ततुल्य होजाता है। इसी तरह 'जीव' पदके साथ 'एव' शब्दका प्रयोग न होनेसे अजीवत्वका व्यवच्छेद नहीं बनता और अजीवत्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे 'जीव' पदके द्वारा अजीवत्वका भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये 'जीव' पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्ततुल्य होजाता है। और इस तरह 'अस्ति' पदके द्वारा

नास्तित्वका भी और 'नास्ति' पदके द्वारा अस्तित्वका भी प्रतिपादन होनेसे तथा 'जीव' पदके द्वारा अजीव अर्थका भी और 'अजीव' पदके द्वारा जीव अर्थ-का भी प्रतिपादन होनेसे अस्ति-नास्ति पदोंमें तथा जीव-अजीव पदोंमें घट-कुट (कुम्भ) शब्दोंकी तरह परस्पर पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभाव होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें भी सभी मानवोंके द्वारा, घट-कुट शब्दों-की तरह, चाहे जिसका प्रयोग किया जा सकता है। और चाहे जिसका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्य से (प्रतियोगीसे) च्युत (रहित) होजाता है—अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वसे सर्वथा रहित होजाता है और इससे सत्ताऽद्वैतका प्रसङ्ग आता है। नास्तित्वका सर्वथा अभाव होनेपर सत्ताऽद्वैत आत्महीन ठहरता है; क्योंकि पररूपके त्यागके अभावमें स्वरूप-ग्रहणकी उपपत्ति नहीं बन सकती—घटमें अघटरूपके त्याग बिना अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा नहीं बन सकती। इसी तरह नास्तित्वके सर्वथा अस्तित्वरहित होनेपर शून्यवादका प्रसङ्ग आता है और अभाव भावके बिना बन नहीं सकता, इससे शून्य भी आत्महीन ही होजाता है। शून्यका स्वरूपसे भी अभाव होनेपर उसके पररूपका त्याग असंभव है—जैसे पटके स्वरूप-ग्रहणके अभावमें शाश्वत अपटरूपके त्यागका असंभव है। क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थापर ही निर्भर है। वस्तु ही पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा अवस्तु होजाती है[1]। सकल स्वरूपसे शून्य जुदी कोई अवस्तु संभव ही नहीं है। अतः कोई भी वस्तु जो अपनी प्रतिपक्षभूत अवस्तुसे वर्जित है वह अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं होती।

> विरोधि चाऽभेद्यविशेष-भावात्-
> तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः।
> विपाद्य-सन्धिश्च तथाऽङ्गभावा-
> दवाच्यता श्रायस-लोप-हेतुः ॥४३॥

---

1 "वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्।"—देवागम ४८

'यदि (सत्ताद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्यवादियोंकी मान्यतानुसार सर्वथा अभेदका अवलम्बन लेकर) यह कहा जाय कि पद—अस्ति या नास्ति—(पने प्रतियोगी पदके साथ सर्वथा) **अभेदी है**—और इसलिये एक पदका अभिधेय अपने प्रतियोगी पदके अभिधेयसे च्युत न होनेके कारण वह आत्महीन नहीं है—**तो यह कथन विरोधी है अथवा इससे उस पदका अभिधेय आत्महीन ही नहीं, किन्तु विरोधी भी होजाता है; क्योंकि किसी भी विशेषका**—भेदका—तब अस्तित्व बनता ही नहीं।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर, जो सत्ताऽद्वैत (भावैकान्त) वादी यह कहता है कि 'अस्ति' पदका अभिधेय अस्तित्व 'नास्ति' पदके अभिधेय नास्तित्वसे सर्वथा अभेदी (अभिन्न) है उसके मतमें पदों तथा अभिधेयोंका परस्पर विरोध भेदका कर्ता है; क्योंकि सत्ताऽद्वैत मतमें सम्पूर्ण विशेषों-भेदोंका अभाव होनेसे अभिधान और अभिधेयका विरोध है—दोनों घटित नहीं होसकते, दोनोंको स्वीकार करनेपर अद्वैतता नष्ट होती है और उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'अनादि-अविद्याके वशसे भेदका सद्भाव है इससे दोष नहीं' तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विद्या-अविद्या भेद भी तब बनते नहीं। उन्हें यदि माना जायगा तो द्वैतताका प्रसङ्ग आएगा और उससे सत्ताऽद्वैत सिद्धान्तकी हानि होगी—वह नहीं बन सकेगा। अथवा अस्तित्वसे नास्तित्व अभेदी है यह कथन केवल आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी है (ऐसा 'च' शब्दके प्रयोगसे जाना जाता है); क्योंकि जब भेदका सर्वथा अभाव है तब अस्तित्व और नास्तित्व भेदोंका भी अभाव है। जो मनुष्य कहता है कि 'यह इससे अभेदी है' उसने उन दोनोंका कथंचित् भेद मान लिया, अन्यथा वह वचन बन नहीं सकता; क्योंकि कथंचित् (किसी प्रकारसे) भी भेदीके न होनेपर भेदीका प्रतिषेध—अभेदी कहना—विरुद्ध पड़ता है—कोई भेदी ही नहीं तो अभेदी (न भेदी) का व्यवहार भी कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता।

यदि यह कहा जाय कि शब्दभेद तथा विकल्पभेदके कारण भेदी होने-

है उसकी प्रतिषेधमें प्रवृत्ति नहीं होती। साथ ही, वह 'स्यात्' पद विपक्षभूत धर्मकी सन्धि-संयोजनास्वरूप होता है—उसके रहते दोनों धर्मोंमें विरोध नहीं रहता; क्योंकि दोनोंमें अङ्गपना है और स्यात्पद उन दोनों अङ्गोंको जोड़ने वाला है।'

'सर्वथा अवक्तव्यता (युक्त नहीं है; क्योंकि वह) श्रायस-मोक्ष अथवा आत्महितके लोपकी कारण है—क्योंकि उपेय और उपायके वचन-विना उनका उपदेश नहीं बनता, उपदेशके विना श्रायसके उपाय का—मोक्षमार्गका—अनुष्ठान नहीं बन सकता और उपाय (मार्ग) का अनुष्ठान न बन सकनेपर उपेयरूप श्रायस (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अवक्तव्यता श्रायसके लोपकी हेतु ठहरती है। अतः स्यात्कार-लांछित एवकारसे युक्त पद ही अर्थवान् है ऐसा प्रतिपादन करना चाहिए, यही तात्पर्यात्मक अर्थ है।'

(इसतरह तो 'स्यात्' शब्दके सर्वत्र प्रयोगका प्रसङ्ग आता है, तब उसका पद-पदके प्रति अप्रयोग शास्त्रमें और लोकमें किस कारणसे प्रतीत होता है ? इस शङ्काका समाधान इस प्रकार है—)

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः।
इति त्वदीया जिननाग ! दृष्टिः
पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥४४॥

'(शास्त्रमें और लोकमें 'स्यात्' निपातका) जो अप्रयोग है—हरएक पदके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता—उसका कारण उस प्रकारका—स्यात्पदात्मक - प्रयोग - प्रकारका—प्रतिज्ञाशय है—प्रतिज्ञामें प्रतिपादन करनेवालेका अभिप्राय सन्निहित है।—जैसे शास्त्रमें 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि वाक्योंमें कहींपर भी 'स्यात्' या 'एव'

शब्दका प्रयोग नहीं है परन्तु शास्त्रकारोंके द्वारा अप्रयुक्त होते हुए भी वह जाना जाता है; क्योंकि उनके वैसे प्रतिज्ञाशयका सद्भाव है। अथवा (स्याद्वादियोंके) प्रतिषेधकी – सर्वथा एकान्तके व्यवच्छेदकी—युक्ति सामर्थ्यसे ही घटित होजाती है—क्योंकि 'स्यात्' पदका आश्रय लिये बिना कोई भी स्याद्वादी नहीं बनता और न स्यात्कारके प्रयोग बिना अनेकान्त-की सिद्धि ही घटित होती है; जैसे कि एवकारके प्रयोग बिना सम्यक् एका-न्तकी सिद्धि नहीं होती। अतः स्याद्वादी होना ही इस बातको सूचित करता है कि उसका आशय प्रतिपदके साथ 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका है, भले ही उसके द्वारा प्रयुक्त हुए प्रतिपदके साथमें 'स्यात्' शब्द लगा हुआ न हो, यही उसके पद-प्रयोगकी सामर्थ्य है।'

(इसके सिवाय, "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" इस प्रकारके वाक्यमें 'स्यात्' पदका अप्रयोग है, ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि 'स्वरूपादि चतुष्टयात्' इस वचनसे स्यात्कारके अर्थकी उसी प्रकार प्रतिपत्ति होती है जिस प्रकार कि 'कथञ्चित्ते सदेवेष्टं' इस वाक्यमें 'कथ-ञ्चित्' वचनसे स्यात्पदका प्रयोग जाना जाता है। इसी प्रकार लोकमें 'घटं आनय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्यों में जो 'स्यात्' शब्दका अप्र-योग है वह उसी प्रतिज्ञाशयको लेकर सिद्ध है।)

'इस तरह हे जिन-नाग!—जिनोंमें श्रेष्ठ श्रीवीर भगवन्! आपकी (नागदृष्टिसम अनेकान्त) दृष्टि दूसरोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा अप्रधृष्य है—अबाधितविषया है—और साथ ही परधर्षिणी भी है—दूसरे भावैकान्तादि-वादियोंकी दृष्टिकी धर्षणा (तिरस्कृति) करनेवाली है—उनके सर्वथा एकान्तरूपसे मान्य सिद्धान्तोंको बाधा पहुँचानेवाली है।'

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
स्याच्छब्द-नेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥४५॥

'स्यात्' (शब्द) भी गुण और मुख्य स्वभावोंके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तोंको लिये हुए होता है—नयोंके आदेशसे। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे अस्तित्व-एकान्त मुख्य है, शेष नास्तित्वादि-एकान्त गौण हैं; क्योंकि प्रधानभावसे वे विवक्षित नहीं होते और न उनका निराकरण ही किया जाता है। इसके सिवाय, ऐसा अस्तित्व गधेके सींगकी तरह असम्भव है जो नास्तित्वादि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता। 'स्यात्' शब्द प्रधान तथा गौणरूपसे ही उनका द्योतन करता है—जिस पद अथवा धर्मके साथ वह प्रयुक्त होता है उसे प्रधान और शेष पदान्तरों अथवा धर्मोंको गौण बतलाता है, यह उसकी शक्ति है। व्यवहारनयके आदेश (प्राधान्य) से नास्तित्वादि-एकान्त मुख्य हैं और अस्तित्व-एकान्त गौण हैं; क्योंकि प्रधानरूपसे वह तब विवक्षित नहीं होता और न उसका निराकरण ही किया जाता है, अस्तित्वका सर्वथा निराकरण करनेपर नास्तित्वादि धर्म बनते भी नहीं; जैसे कछुवेके रोम। नास्तित्वादि धर्मोंके द्वारा अपेक्षमाण जो वस्तुका अस्तित्व धर्म है वह 'स्यात्' शब्दके द्वारा द्योतन किया जाता है। इस तरह 'स्यात्' नामका निपात प्रधान और गौणरूपसे जो कल्पना करता है वह शुद्ध (सापेक्ष) नयके आदेशरूप सम्यक् एकान्तसे करता है, अन्यथा नहीं—क्योंकि वह यथोपाधि—विशेषणानुसार—विशेषका—धर्म-भेद अथवा धर्मान्तरका—द्योतक होता है, जिसका वस्तुमें सद्भाव पाया जाता है।'

इसीसे सकलरूप तत्त्व प्रमाणका विषय है। कहा भी है--'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः।'

'और वह तत्त्व दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक भवार्थवान् होनेसे द्रव्यरूप, जिसे सद्द्रव्य तथा विधि भी कहते हैं, **और दूसरा व्यवहारवान् होनेसे** पर्यायरूप, जिसे असद्द्रव्य, गुण तथा प्रतिषेध भी कहते हैं। इनसे भिन्न उसका दूसरा कोई प्रकार नहीं है, जो कुछ है वह सब इन्हीं दो भेदोंके अन्तर्भूत है।'

न द्रव्य-पर्याय-पृथग्-व्यवस्था
द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम्।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥४७॥

सर्वथा द्रव्यकी ('द्रव्यमेव' इस द्रव्यमात्रात्मक एकान्तकी) **कोई व्यवस्था नहीं बनती**—क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायोंसे रहित द्रव्यमात्रतत्त्व प्रमाणका विषय नहीं है—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे वह सिद्ध नहीं होता अथवा जाना नहीं जासकता; **न सर्वथा पर्यायकी** ('पर्याय' एव—एक मात्र पर्याय ही—इस एकान्त सिद्धान्तकी) **कोई व्यवस्था बनती है**—क्योंकि द्रव्य एकान्तकी तरह द्रव्यसे रहित पर्यायमात्र तत्त्व भी किसी प्रमाणका विषय नहीं है; **और न सर्वथा पृथग्भूत**—परस्परनिरपेक्ष—**द्रव्य-पर्याय** (दोनों) **की ही कोई व्यवस्था बनती है**— क्योंकि उसमें भी प्रमाणाभाव की दृष्टिसे कोई विशेष नहीं है, वह भी सकल प्रमाणोंके अगोचर है।'

'(द्रव्यमात्रकी, पर्यायमात्रकी तथा पृथग्भूतद्रव्य-पर्यायमात्रकी व्यवस्था न बन सकनेसे) **यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाय तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य एककी अर्पणाके साथ विरुद्ध पड़ता है**—सर्वथा एकत्वके साथ द्वयात्मकता बनती ही नहीं—क्योंकि जो द्रव्यकी प्रतीतिका

हेतु है और जो पर्यायकी प्रतीतिका निमित्त है वे दोनों यदि परस्परमें भिन्नात्मा हैं तो कैसे तदात्मक एक तत्त्व व्यवस्थित होता है ? नहीं होता; क्योंकि अभिन्नका भिन्नात्माओंके साथ एकत्वका विरोध है। जब वे दोनों आत्माएँ एकसे अभिन्न हैं तब भी एक ही अवस्थित होता है; क्योंकि सर्वथा एकसे अभिन्न उन दोनोंके एकत्वकी सिद्धि होती है, न कि द्वैयात्म्य (द्वयात्मकता) की, जो कि एकत्वके विरुद्ध है। कौन ऐसा अमूढ़ (समझदार) है जो प्रमाणको अङ्गीकार करता हुआ सर्वथा एक वस्तुके दो भिन्न आत्माओंकी अर्पणा--विवक्षा करे ?--मूढ़के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। अतः द्वयात्मक तत्त्व सर्वथा एकार्पणाके--एक तत्त्वकी मान्यताके--साथ विरुद्ध ही है, ऐसा मानना चाहिये।'

'(किन्तु हे वीर जिन !) **आपके मतमें**—स्याद्वादशासनमें--**ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूपसे तीन प्रकार—भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न--माने गये हैं और (इसलिये) सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं।**—क्योंकि सर्वथारूपसे तीन प्रकार माने जानेपर भी ये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध ठहरते हैं और विरुद्धरूपमें आपको अभिमत नहीं हैं। अतः स्यात्पदात्मक वाक्य न तो धर्ममात्रका प्रतिपादन करता है, न धर्मीमात्रका, न धर्म-धर्मी दोनोंको सर्वथा अभिन्न प्रतिपादन करता है, न सर्वथा भिन्न और न सर्वथा भिन्नाऽभिन्न। क्योंकि ये सब प्रतीतिके विरुद्ध हैं। और इससे द्रव्य-एकान्तकी, पर्याय-एकान्तकी तथा परस्परनिरपेक्ष पृथग्भूत द्रव्य-पर्याय-एकान्तकी व्यवस्थाके न बन सकनेका समर्थन होता है। द्रव्यादिके सर्वथा एकान्तमें युक्त्यनुशासन घटित नहीं होता।'

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्म-
तत्त्व-व्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ॥४८॥

'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित-विषयस्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे **युक्त्यनुशासन—युक्ति-वचन—कहते हैं और वही** (हे वीर भगवान्!) **आपको अभिमत है।'**

'(यहाँ आपके ही मतानुसार युक्त्यनुशासनका एक उदाहरण दिया जाता है और वह यह है कि) **अर्थका रूप प्रतिक्षण** (प्रत्येक समय में) **स्थिति** (ध्रौव्य) **उदय** (उत्पाद) **और व्यय** (नाश) **रूप तत्त्व-व्यवस्थाको लिये हुए हैं; क्योंकि वह सत् है।'**

(इस युक्त्यनुशासन में जो पक्ष है वह प्रत्यक्षके विरुद्ध नहीं है; क्योंकि अर्थका ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूप जिस प्रकार बाह्य घटादिक पदार्थोंमें अनुभव किया जाता है उसी तरह आत्मादि आभ्यन्तर पदार्थोंमें भी उसका साक्षात् अनुभव होता है। उत्पादमात्र तथा व्ययमात्रकी तरह स्थितिमात्रका—सर्वथा ध्रौव्यका—सर्वत्र अथवा कहीं भी साक्षात्कार नहीं होता। और अर्थके इस ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूपका अनुभव, बाधक प्रमाणका अभाव सुनिश्चित होनेसे, अनुपपन्न नहीं है—उपपन्न है; क्योंकि कालान्तरमें ध्रौव्योत्पादव्ययका दर्शन होनेसे उसकी प्रतीति सिद्ध होती है; अन्यथा खर-विषाणादिकी तरह एक बार भी उसका योग नहीं बनता। अतः प्रत्यक्ष-विरोध नहीं है। आगम-विरोध भी इस युक्त्यनुशासनके साथ घटित नहीं हो सकता; क्योंकि 'उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' यह परमागमवचन प्रसिद्ध है—सर्वथा एकान्तरूप आगम दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा इष्ट (अनुमान) के विरुद्ध अर्थका अभिधायी होनेसे ठग-पुरुषके वचनकी तरह प्रसिद्ध अथवा प्रमाण नहीं है। और इसलिये पक्ष निर्दोष है। इसी तरह सत्रूप साधन भी असिद्धादि दोषोंसे रहित है। अतः 'अर्थका रूप प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है सत् होनेसे,' यह युक्त्यनुशासनका उदाहरण समीचीन है।)

(इस तरह तो यह फलित हुआ कि एक ही वस्तु नाना-स्वभावको प्राप्त है जो कि विरुद्ध है। तब उसकी सिद्धि कैसे होती है? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—)

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अङ्गाङ्गि-भावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥४९॥

'(हे वीर जिन !) आपके शासनमें जो (जीवादि) वस्तु एक है (सत्त्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे) वह (समीचीन नाना ज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मता (अनेकरूपता) का त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्वको प्राप्त होती है—जो नानात्मताका त्याग करती है वह वस्तु ही नहीं; जैसे दूसरोंके द्वारा परिकल्पित ब्रह्माद्वैत आदि। (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नानाज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मताको न छोड़ती हुई ही आपके मतमें वस्तुस्वरूपसे अभिमत है—अन्यथा उसके वस्तुत्व नहीं बनता; जैसे कि दूसरोंके द्वारा अभिमत निरन्वय नानाक्षणरूप वस्तु। अतः जीवादिपदार्थसमूह परस्पर एक-दूसरेका त्याग न करनेसे एक-अनेक-स्वभावरूप है; क्योंकि वस्तुत्वकी अन्यथा उपपत्ति बनती ही नहीं' यह युक्त्यनुशासन है।

'(इस प्रकारकी वस्तु वचनके द्वारा कैसे कही जा सकती है ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि) वस्तु जो अनन्तरूप है वह अङ्ग-अङ्गीभावके कारण—गुण-मुख्यकी विवक्षाको लेकर—क्रमसे वचन-गोचर है—युगपत् नहीं, युगपत् (एक साथ) एक रूपसे और अनेक-रूपसे वस्तु वचनके द्वारा कही ही नहीं जाती; क्योंकि वैसी वाणीका असंभव है—वचनमें वैसी शक्ति ही नहीं है। और इस तरह क्रमसे प्रवर्तमान वचन वस्तुरूप—सत्य—होता है उसके असत्यत्वका प्रसङ्ग नहीं

आता; क्योंकि उसकी अपने नानात्व और एकत्वविषयमें अङ्ग-अङ्गीभावसे प्रवृत्ति होती है। जैसे 'स्यादेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधानभावसे एकत्व वाच्य है और गौणरूपसे अनेकत्व; 'स्यादनेकमेव वस्तु' इस वचन-के द्वारा प्रधानभावसे अनेकत्व और गौणरूपसे एकत्व वाच्य है। इस तरह एकत्व और अनेकत्वके वचनके कैसे असत्यता होसकती है? नहीं होसकती है। प्रत्युत इसके, सर्वथा एकत्वके वचन-द्वारा अनेकत्वका निरा-करण होता है और अनेकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी एकत्वके भी निराकरणका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे असत्यत्वकी परिप्राप्ति अभीष्ट ठहरती है; क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं है। और सर्वथा अनेक-त्वके वचनद्वारा एकत्वका निराकरण होता है और एकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी अनेकत्वके भी निराकरणका प्रसंग उपस्थित होनेसे सत्यत्वका विरोध होता है। और इसलिये अनन्त धर्मरूप जो वस्तु है उसे अंग-अंगी (अप्रधान-प्रधान) भावके कारण क्रमसे वाग्वाच्य (वचनगोचर) समझना चाहिये।'

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थ-हेतु-
र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थ-हेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसि-क्रियायाम् ॥५०॥

'(वस्तुको अनन्तधर्मविशिष्ट मानकर यदि यह कहा जाय कि वे धर्म परस्पर-निरपेक्ष ही हैं और धर्मी उनसे पृथक् ही है तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि) जो अंश—धर्म अथवा वस्तुके अवयव—**परस्पर-निरपेक्ष हैं वे पुरुषार्थके हेतु नहीं हो सकते**; क्योंकि उस रूपमें उप-लभ्यमान नहीं हैं'—जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं वह उस रूपमें व्यवस्थित भी नहीं होता, जैसे अग्नि शीतताके साथ उपलभ्यमान नहीं है तो वह शीततारूपमें व्यवस्थित भी नहीं होती। परस्परनिरपेक्ष सत्त्वादिक धर्म

अथवा अवयव पुरुषार्थहेतुतारूपसे उपलक्ष्यमान नहीं हैं, अतः पुरुषार्थता-हेतुरूपमें व्यवस्थित नहीं होते। यह युक्त्यनुशासन प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध है।'

'जो अंश-धर्म परस्पर-सापेक्ष हैं वे पुरुषार्थके हेतु हैं; क्योंकि उस रूपमें देखे जाते हैं—जो जिस रूपमें देखे जाते हैं वे उसी रूपमें व्यवस्थित होते हैं, जैसे दहन (अग्नि) दहनताके रूपमें देखी जाती है और इसलिये तद्रूपमें व्यवस्थित होती है; परस्परसापेक्ष अंशः स्वभावतः पुरुषार्थ-हेतुतारूपसे देखे जाते हैं और इसलिये पुरुषार्थहेतुरूपसे व्यवस्थित हैं। यह स्वभावकी उपलब्धि है।'

'(इसी तरह) अंशी—धर्मी अथवा अवयवी—अंशोंसे—धर्मों अथवा अवयवोंसे—पृथक् नहीं है; क्योंकि उसरूपमें उपलभ्यमान नहीं है—जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं वह उसमें नास्तिरूप ही है, जैसे अग्नि शीततारूपसे उपलभ्यमान नहीं है अतः शीततारूपसे उसका अभाव है। अंशोंसे अंशीका पृथक् होना सर्वदा अनुपलभ्यमान है अतः अंशोंसे पृथक् अंशीका अभाव है। यह स्वभावकी अनुपलब्धि है। इसमें प्रत्यक्षतः कोई विरोध नहीं है, क्योंकि परस्पर विभिन्न पदार्थों सह्याचल–विन्ध्या-चलादि जैसोंके अंश-अंशीभावका दर्शन नहीं होता। आगम-विरोध भी इसमें नहीं है; क्योंकि परस्पर विभिन्न अर्थोंके अंश-अंशीभावका प्रति-पादन करनेवाले आगमका अभाव है, और जो आगम परस्पर विभिन्न पदार्थोंके अंश-अंशीभावका प्रतिपादक है वह युक्ति-विरुद्ध होनेसे आगमा-भास सिद्ध है।'

'अंश-अंशीकी तरह परस्परसापेक्ष नय—नैगमादिक—भी (सत्तालक्षण) अभिक्रियामें पुरुषार्थके हेतु हैं; क्योंकि उस रूप में देखे जाते हैं—उपलभ्यमान हैं।—इससे स्थितिग्राहक द्रव्यार्थिक-नयके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार और प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययके ग्राहक पर्यायार्थिकनयके भेद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये सब परस्परमें सापेक्ष होते हुए ही वस्तुका जो साध्य अर्थक्रिया-लक्षण-पुरुषार्थ है उसके

निर्णयके हेतु हैं—अन्यथा नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगमसे अवि-रोधरूप जो अर्थका प्ररूपण सत्रूप है वह सब प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पाद-व्ययात्मक है; अन्यथा सत्पना बनता ही नहीं। इस प्रकार युक्त्यनुशासन-को उदाहृत जानना चाहिये।'

एकान्त-धर्माऽभिनिवेश-मूला
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकान्त-हानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५१॥

'(जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जीवादिवस्तुका अनेकान्तात्मक-रूपसे निश्चय होनेपर स्वात्माकी तरह परात्मामें भी राग होता है—दोनोंमें कथंचित् अभेदके कारण, तथा परात्माकी तरह स्वात्मामें भी द्वेष होता है—दोनोंमें कथंचित् भेदके कारण, और राग-द्वेषके कार्य ईर्ष्या, असूया, मद, मायादिक दोष प्रवृत्त होते हैं, जो कि संसारके कारण हैं, सकल विक्षोभके निमित्तभूत हैं तथा स्वर्गाऽपवर्गके प्रतिबन्धक हैं। और वे दोष प्रवृत्त होकर मनके समत्वका निराकरण करते हैं—उसे अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित न रहने देकर विषम-स्थितिमें पटक देते हैं—, मनके सम-त्वका निराकरण समाधिको रोकता है, जिससे समाधि-हेतुक निर्वाण किसीके नहीं बन सकता। और इसलिये जिनका यह कहना है कि 'मोक्षके कारण समाधिरूप मनके समत्वकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि वह जीवादि वस्तुको अनेकान्तात्मक न माने' वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **वे राग द्वेषादिक**—जो मनकी समताका निराकरण करते हैं—**एकान्तधर्माभिनिवेश-मूलक होते हैं**—एकान्त-रूपसे निश्चय किये हुए (नित्यत्वादि) धर्ममें अभि-निवेश–मिथ्याश्रद्धान[1] उनका मूलकारण होता है–**और** (मोही–मिथ्यादृष्टि)

---

१. चूंकि प्रमाणसे अनेकान्तात्मक वस्तुका ही निश्चय होता है और सम्यक् नयसे प्रतिपक्षकी अपेक्षा रखनेवाले एकान्तका व्यवस्थापन होता है अतः एकान्ताभिनिवेशका नाम मिथ्यादर्शन या मिथ्याश्रद्धान है, यह प्रायः निर्णीत है।

जीवोंकी अहंकृतिसे—अहंकार तथा उसके साथी ममकारसे[२]—वे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उन अहंकार-ममकार भावोंसे ही उनकी उत्पत्ति है जो मिथ्यादर्शनरूप मोह-राजाके सहकारी हैं—मन्त्री हैं[३], अन्यसे नहीं—दूसरे अहंकार-ममकारके भाव उन्हें जन्म देनेमें असमर्थ हैं। और (सम्यग्दृष्टि-जीवोंके) एकान्तकी हानि से—एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावसे—वह एकान्ताभिनिवेश उसी अनेकान्तके निश्चयरूप सम्यग्दर्शनत्वको धारण करता है जो आत्माका वास्तविक रूप है; क्योंकि एकान्ताभिनिवेशका जो अभाव है वही उसके विरोधी अनेकान्तके निश्चयरूप सम्यग्दर्शनका सद्भाव है। और चूँकि यह एकान्ताभिनिवेशका अभावरूप सम्यग्दर्शन आत्माका स्वाभाविक रूप है अतः (हे वीर भगवान्!) आपके यहाँ—आपके युक्त्यनुशासनमें—(सम्यग्दृष्टिके) मनका समत्व ठीक घटित होता है। वास्तवमें दर्शनमोहके उदयरूप मूलकारणके होते हुए चारित्रमोहके उदयमें जो रागादिक उत्पन्न होते हैं वे ही जीवोंके अस्वाभाविक परिणाम हैं; क्योंकि वे औदयिक भाव हैं। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो परिणाम दर्शनमोहके नाश, चारित्रमोहकी उदयहानि और रागादिके अभावसे होते हैं वे आत्मरूप होनेसे जीवोंके स्वाभाविक परिणाम हैं—किन्तु पारिणामिक नहीं; क्योंकि पारिणामिक भाव कर्मोंके उपशमादिकी अपेक्षा नहीं रखते। ऐसी स्थितिमें असंयत सम्यग्दृष्टिके भी स्वानुरूप मनःसाम्यकी

---

२. 'मैं इसका स्वामी' ऐसा जो जीवका परिणाम है वह 'अहंकार' है और 'मेरा यह भोग्य' ऐसा जो जीवका परिणाम है वह 'ममकार' कहलाता है। अहंकारके साथ यहाँ सामर्थ्यसे ममकार भी प्रतिपादित है

३. कहा भी है—

"ममकाराऽहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
रागादि-सकलपरिकर-परिपोषण-तत्परौ सततम् ॥१॥"

—युक्त्यनुशासनटीकामें उद्धृत।

अपेक्षा मनका सम होना बनता है; क्योंकि उसके संयमका सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः अनेकान्तरूप युक्त्यनुशासन रागादिकका निमित्तकारण नहीं, वह तो मनकी समताका निमित्तभूत है।

प्रमुच्यते च प्रतिपक्ष-दूषी
जिन ! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः ।
एकस्य नानात्मतया ज्ञ-वृत्ते-
स्तौ बन्ध-मोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥५२॥

'(यदि यह कहा जाय कि अनेकान्तवादीका भी अनेकान्तमें राग और सर्वथा एकान्तमें द्वेष होनेसे उसका मन सम कैसे रह सकता है, जिससे मोक्ष बन सके ? मोक्षके अभावमें बन्धकी कल्पना भी नहीं बनती। अथवा मनका सदा सम रहना माननेपर बन्ध नहीं बनता और बन्धके अभावमें मोक्ष घटित नहीं हो सकता, जो कि बन्धपूर्वक होता है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों ही अनेकान्तवादीके स्वमतसे बाह्य ठहरते हैं--मनकी समता और असमता दोनों ही स्थितियोंमें उनकी उपपत्ति नहीं बन सकती-तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो प्रतिपक्षदूषी है**--प्रतिद्वन्द्वीका सर्वथा निराकरण करनेवाला एकान्ताग्रही है—**वह तो हे वीर जिन ! आप** (अनेकान्तवादी) **के एकाऽनेकरूपता जैसे पटुसिंहनादोंसे**—निश्चयात्मक एवं सिंहगर्जनाकी तरह अबाध्य ऐसे युक्ति-शास्त्राविरोधी आगमवाक्योंके प्रयोगद्वारा—**प्रमुक्त ही किया जाता है**--वस्तुतत्त्वका विवेक कराकर अतत्त्वरूप एकान्ताग्रहसे उसे मुक्ति दिलाई जाती है—**क्योंकि प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, उसका नानात्मकरूपसे निश्चय ही सर्वथा एकान्तका प्रमोचन है।** ऐसी दशामें अनेकान्तवादीका एकान्तवादीके साथ कोई द्वेष नहीं हो सकता, और चूँकि वह प्रतिपक्षका भी स्वीकार करनेवाला होता है इसलिये स्वपक्षमें उसका सर्वथा राग भी नहीं बन सकता। वास्तवमें तत्त्वका निश्चय ही राग नहीं होता।

यदि तत्त्वका निश्चय ही राग होवे तो क्षीणमोहीके भी रागका प्रसंग आएगा, जोकि असम्भव है; और न अतत्त्वके व्यवच्छेदको ही द्वेष प्रतिपादित किया जा सकता है, जिसके कारण अनेकान्तवादीका मन सम न रहे। अतः अनेकान्तवादीके मनकी समताके निमित्तसे होनेवाले मोक्षका निषेध कैसे किया जा सकता है ? और मनका समत्व सर्वत्र और सदाकाल नहीं बनता, जिससे राग-द्वेषके अभावसे बन्धके अभावका प्रसंग आवे; क्योंकि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे किसी तरह, कहींपर और किसी समय कुछ पुण्यबन्धकी उपपत्ति पाई जाती है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों अपने (अनेकान्त) मतसे--जोकि अनन्तात्मक तत्त्व विषयको लिये हुए हैं— बाह्य नहीं हैं—उसीमें वस्तुतः उनका सद्भाव है—क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों ज्ञवृत्ति हैं—अनेकान्तवादियोंद्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मामें ही उनकी प्रवृत्ति है। और इसलिये सांख्योंद्वारा स्वीकृत प्रधान (प्रकृति) के अनेकान्तात्मक होनेपर भी उसमें वे दोनों घटित नहीं हो सकते; क्योंकि प्रधान (प्रकृति) के अज्ञता होती है—वह ज्ञाता नहीं माना गया है।'

आत्मान्तराऽभाव-समानता न
वागास्पदं स्वाऽऽश्रय-भेद-हीना ।
भावस्य सामान्य-विशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥५३॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकके नानात्मक अर्थके प्रतिपादक शब्द पटुसिंहनाद प्रसिद्ध नहीं हैं; क्योंकि बौद्धोंके अन्याऽपोहरूप जो सामान्य है उसके वागास्पदता—वचनगोचरता—है, और वचनोंके वस्तु-विषयत्वका असम्भव है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) आत्मान्तरके अभावरूप—आत्मस्वभावसे भिन्न अन्य-अन्य स्वभावके अपोहरूप— जो समानता (सामान्य) अपने आश्रयरूप भेदोंसे हीन (रहित) है वह वागास्पद—वचनगोचर—नहीं होती; क्योंकि वस्तु सामान्य और विशेष दोनों धर्मोंको लिये हुए है।'

'(यदि यह कहा जाय कि पदार्थके सामान्य-विशेषवान् होने पर भी सामान्यके ही वागास्पदता यु है; क्योंकि विशेष उसीका आत्मा है, और इस तरह दोनोंकी एकरूपता मानी जाय, तो) **सामान्य और विशेष दोनोंकी एकरूपता स्वीकार करनेपर एकके निरात्म** (अभाव) **होनेपर दूसरा भी** (अविनाभावी होनेके कारण) **निरात्म** (अभाव-रूप) **हो जाता है**—और इस तरह किसीका भी अस्तित्व नहीं बन सकता, अतः दोनोंकी एकता नहीं मानी जानी चाहिए।'

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांश-विकल्पतो न
मानं च नाऽनन्त-समाश्रयस्य ॥५४॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मान्तराभावरूप—अन्यापोहरूप—सामान्य वागास्पद नहीं है, क्योंकि वह अवस्तु है; बल्कि वह सर्वगत सामान्य ही वागास्पद है जो विशेषोंसे अश्लिष्ट है—किसी भी प्रकारके भेदको साथमें लिये हुए नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो अमेय है**—नियत देश, काल और आकारकी दृष्टिसे जिसका कोई अन्दाजा नहीं लगाया जासकता—**और अश्लिष्ट है**—किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) को साथमें लिये हुए नहीं है—वह (सर्वव्यापी, नित्य, निराकाररूप सत्त्वादि) **सामान्य अमेय-अप्रमेय ही है**—किसी भी प्रमाणसे जाना नहीं जासकता। **भेदके मानने पर भी**—सामान्यको स्वाश्रयभूत द्रव्यादिकोंके साथ भेदरूप स्वीकार करने पर भी—**सामान्य प्रमेय नहीं होता; क्योंकि उन द्रव्यादिकोंमें उसकी वृत्तिकी अप-वृत्ति** (व्यावृत्ति) **का सद्भाव है**—सामान्यकी वृत्ति उनमें मानी नहीं गई है, और जब तक सामान्यकी अपने आश्रयभूत द्रव्यादिकोंमें वृत्ति नहीं है तब तक दोनोंका संयोग कुण्डीमें बेरोंके समान ही होसकता है;

'यदि सामान्यको द्रव्यादिवस्तुके साथ वृत्ति मानी भी जाय तो वह वृत्ति भी न तो सामान्यको कृत्स्न (निरंश) विकल्परूप मानकर बनती है और न अंशविकल्परूप।—क्योंकि अंशकल्पना-से रहित कृत्स्न विकल्परूप सामान्यकी देश और कालसे भिन्न व्यक्तियोंमें युगपत्वृत्ति सिद्ध नहीं की जासकती। उससे अनेक सामान्योंकी मान्यताका प्रसंग आता है, जो उक्त सिद्धान्तमान्यताके साथ माने नहीं गये हैं; क्योंकि एक तथा अनंशरूप सामान्यका उन सबके साथ युगपत् योग नहीं बनता। यदि यह कहा जाय कि सामान्य भिन्न देश और कालके व्यक्तियोंके साथ युगपत् सम्बन्धवान् है, क्योंकि वह सर्वगत, नित्य और अमूर्त है, जैसे कि आकाश; तो यह अनुमान भी ठीक नहीं है। इससे एक तो साधन इष्टका विघातक हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार वह भिन्न देश-कालके व्यक्तियोंके साथ सम्बन्धिपनको सिद्ध करता है उसी प्रकार वह सामान्यके आकाशकी तरह सांशपनको भी सिद्ध करता है जोकि इष्ट नहीं है; क्योंकि सामान्यको निरंश माना गया है। दूसरे, सामान्यके निरंश होनेपर उसका युगपत् सर्वगत होना उसी प्रकार विरुद्ध पड़ता है जिस प्रकार कि एक परमाणुका युगपत् सर्वगत होना विरुद्ध है, और इससे उक्त हेतु (साधन) असिद्ध है तथा असिद्ध-हेतुके कारण कृत्स्नविकल्परूप (निरंश) सामा-न्यका सर्वगत होना प्रमाणसिद्ध नहीं ठहरता।'

'(यदि यह कहा जाय कि सत्तारूप महासामान्य तो पूरा सर्वगत सिद्ध ही है, क्योंकि वह सर्वत्र सत्प्रत्ययका हेतु है, तो यह ठीक नहीं है; कारण ?) जो अनन्त व्यक्तियोंके समाश्रयरूप है उस एक (सत्ता-महासामान्य) के ग्राहक प्रमाणका अभाव है—क्योंकि अनन्त सद्-व्यक्तियोंके ग्रहण विना उसके विषयमें युगपत् सत् इस ज्ञानकी उत्पत्ति असर्वज्ञों (छद्मस्थों) के नहीं बन सकती, जिससे सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वकी

सिद्धि हो सके। सर्वत्र सत्प्रत्यय-हेतुत्वकी सिद्धि न होनेपर अनन्त समाश्रयी सामान्यका उक्त अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। और इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कृत्स्नविकल्पी सामान्यकी द्रव्यादिकोंमें वृत्ति सामान्यबहुत्वका प्रसङ्ग उपस्थित होनेके कारण नहीं बन सकती। यदि सामान्यकी अनन्त स्वाश्रयोंमें देशतः युगपत् वृत्ति मानी जाय तो वह भी इसीसे दूषित होजाता है; क्योंकि उसका ग्राहक भी कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही सामान्यके सप्रदेशत्वका प्रसङ्ग आता है, जिसे अपने उस सिद्धान्तका विरोध होनेसे जिसमें सामान्यको निरंश माना गया है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। और इसलिये अमेयरूप एक सामान्य किसी भी प्रमाणसे सिद्ध न होने-के कारण अप्रमेय ही है—अप्रामाणिक है।'

नाना-सदेकात्म-समाश्रयं चेद्-
अन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व।
विकल्प-शून्यत्वमवस्तुनश्चेत्
तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥५५॥

'नाना सतों—सत्पदार्थोंका—विविध द्रव्य-गुण-कर्मोंका—एक आत्मा—एक स्वभावरूप व्यक्तित्व; जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मात्मा—ही जिसका समाश्रय है ऐसा सामान्य यदि (सामान्य-वादियोंके द्वारा) माना जाय और उसे ही प्रमाणका विषय बतलाया जाय—अर्थात् यह कहा जाय कि सत्तासामान्यका समाश्रय एक सदात्मा, द्रव्यत्व-सामान्यका समाश्रय एक द्रव्यात्मा, गुणत्वसामान्यका समाश्रय एक गुणात्मा अथवा कर्मत्व-सामान्यका समाश्रय एक कर्मात्मा जो अपनी क सद्व्यक्ति, द्रव्यव्यक्ति, गुणव्यक्ति अथवा कर्मव्यक्तिके प्रतिभासकालमें प्रमाणसे प्रतीत होता है वही उससे भिन्न द्वितीयादि व्यक्तियोंके प्रतिभास-कालमें भी अभि-व्यक्तताको प्राप्त होता है और जिससे उसके एक सत् अथवा एक द्रव्यादि-स्वभावकी प्रतीति होती है, इतने मात्र आश्रयरूप सामान्यके ग्रहणका निमित्त

मौजूद है अतः वह प्रमाण है, उसके अप्रमाणता नहीं है; क्योंकि अप्रमाणता अनन्तस्वभावके समाश्रयरूप सामान्यके घटित होती है—तो ऐसी मान्यतावाले सामान्यवादियोंसे यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे अन्य (भिन्न) है या अनन्य (अभिन्न) ? यदि वह एक स्वभावके आश्रयरूप सामान्य अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अन्य (भिन्न) है तो (उन व्यक्तियोंके प्रागभावकी तरह असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्वका प्रसंग आएगा और व्यक्तियोंके असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्व-रूप होनेपर सत्सामान्य, द्रव्यत्वसामान्य, गुणत्वसामान्य अथवा कर्मत्वसामान्य भी व्यक्तित्वविहीन होनेसे अभावमात्रकी तरह असत् ठहरेगा, और इस तरह-) व्यक्तियों तथा सामान्य दोनोंके ही अनात्मा-अस्तित्वविहीन-होनेपर वह अन्यत्वगुण किसमें रहेगा जिसे अद्विष्ठ—एकमें रहने वाला—माना गया है ? किसीमें भी उसका रहना नहीं बन सकता और इसलिए अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अन्यरूप सामान्य व्यवस्थित नहीं होता।'

(यदि वह सामान्य व्यक्तियोंसे सर्वथा अनन्य (अभिन्न) है तो वह अनन्यत्व भी व्यवस्थित नहीं होता; क्योंकि सामान्यके व्यक्तिमें प्रवेश कर जानेपर व्यक्ति ही रह जाती है—सामान्यकी कोई अलग सत्ता नहीं रहती और सामान्यके अभावमें उस व्यक्तिकी संभावना नहीं बनती इसलिए वह अनात्मा ठहरती है, व्यक्तिका अनात्मत्व (अनस्तित्व) होनेपर सामान्यके भी अनात्मत्वका प्रसंग आता है और इस तरह व्यक्ति तथा सामान्य दोनों ही अनात्मा (अस्तित्व-विहीन) ठहरते हैं; तब अनन्यत्व-गुणकी योजना किसमें की जाय, जिसे द्विष्ठ (दोनोंमें रहने वाला) माना गया है ? किसीमें भी उसकी योजना नहीं बन सकती। और इसके द्वारा सर्वथा अन्य-अनन्यरूप उभय-एकान्तका भी निरसन हो जाता है; क्योंकि उसकी मान्यतापर दोनों प्रकारके दोषोंका प्रसंग आता है।)

'यदि सामान्यको (वस्तुभूत न मान कर) अवस्तु (अन्याऽपोह-रूप) ही इष्ट किया जाय और उसे विकल्पोंसे शून्य माना जाय--

यह कहा जाय कि उसमें खरविषाणकी तरह अन्यत्व-अनन्यत्वादिके विकल्प ही नहीं बनते और इसलिए विकल्प उठाकर जो दोष दिये गये हैं उनके लिए अवकाश नहीं रहता—तो उस **अवस्तुरूप सामान्यके अमेय होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति कहाँ होती है?** अमेय होनेसे वह सामान्य प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय नहीं रहता और इसलिए उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।'

(इस तरह दूसरोंके यहाँ प्रमाणाभावके कारण किसी भी सामान्यकी व्यवस्था नहीं बन सकती।)

व्यावृत्ति-हीनाऽन्वयतो न सिद्धये्द्
विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।
अतद्व्युदासाऽभिनिवेश-वादः
पराऽभ्युपेताऽर्थ-विरोध-वादः ॥५६॥

'**यदि साध्यको**—सत्तारूप परसामान्य अथवा द्रव्यत्वादिरूप अपर सामान्यको—**व्यावृत्तिहीन अन्वयसे**—असत्की अथवा अद्रव्यत्वादिकी व्यावृत्ति (जुदायगी) के विना केवल सत्तादिरूप अन्वय-हेतुसे—**सिद्ध माना जाय तो वह सिद्ध नहीं होता**—क्योंकि विपक्षकी व्यावृत्तिके विना सत्-असत् अथवा द्रव्यत्व अद्रव्यत्वादिरूप साधनोंके संकरसे सिद्धिका प्रसंग आता है और यह कहना नहीं बन सकता कि जो सदादिरूप अनुवृत्ति (अन्वय) है वही असदादिकी व्यावृत्ति है; क्योंकि अनुवृत्ति (अन्वय) भाव-स्वभावरूप और व्यावृत्ति अभाव-स्वभावरूप है और दोनोंमें भेद माना गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदादिके अन्वयपर असदादिककी व्यावृत्ति सामर्थ्यसे ही हो जाती है; क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि 'व्यावृत्तिहीन अन्वयसे उस साध्यकी सिद्धि होती है'—सामर्थ्यसे असदादिककी व्यावृत्तिको सिद्ध माननेपर तो यही कहना होगा कि वह अन्वयरूप हेतु असदादिकी व्यावृत्तिसहित है, उसीसे सत्ता-

द्वारा संवेदनाद्वैतरूप जो अर्थ पराभ्युपगत है वह अतद्व्युदासाभिनिवेश-वादसे—अतद्व्यावृत्तिमात्र आग्रहवचनरूपसे—विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि किसी असाधन तथा असाध्यके अर्थाभावमें उनकी अव्यावृत्तिसे साध्य-साधन-व्यवहारकी उपपत्ति नहीं बनती और उनको अर्थ माननेपर प्रतिक्षेपका योग्यपना न होनेसे द्वैतकी सिद्धि होती है। इस तरह बौद्धोंके पूर्वाभ्युपेत अर्थके विरोधवादका प्रसङ्ग आता है'

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्ति-
र्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्ष-सिद्धिः।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्ष-सिद्धिः
न च स्वयं साधन-रिक्त-सिद्धिः ॥५७॥

'(यदि बौद्धोंकी तरफसे यह कहा जाय कि वे साधनको अनात्मक मानते हैं, वास्तविक नहीं और साध्य भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह संवृत्तिके द्वारा कल्पिताकाररूप है, अतः पराभ्युपेतार्थके विरोधवादका प्रसङ्ग नहीं आता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; (क्योंकि) **अनात्मा**—निःस्वभाव संवृतिरूप तथा असाधनकी व्यावृत्तिमात्ररूप—**साधनके द्वारा** उसी प्रकारके **अनात्मसाध्यकी जो गति-प्रतिपत्ति** (जानकारी) **है उसकी सर्वथा अयुक्ति-अयोजना है**—वह बनती ही नहीं।'

यदि (संवेदनाद्वैतरूप) **वस्तुमें अनात्मसाधनके द्वारा अनात्म-साध्यकी गतिकी अयुक्तिसे पक्षकी सिद्धि मानी जाय**—अर्थात् संवेदनाद्वैतवादियोंके द्वारा यह कहा जाय कि साध्य-साधनभावसे शून्य संवेदनमात्रके पक्षपनेसे ही हमारे यहाँ तत्त्वसिद्धि है, तो (विकल्पिताकार) **अवस्तुमें साधन-साध्यकी अयुक्तिसे प्रतिपक्षकी—द्वैतकी—भी सिद्धि ठहरती है।** अवस्तुरूप साधन अद्वैततत्त्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं करता है; क्योंकि ऐसा होनेसे अतिप्रसंग आता है—विपक्षकी भी सिद्धि ठहरती है।'

'और यदि साधनके बिना स्वतः ही संवेदनाद्वैतरूप साध्यकी सिद्धि मानी जाय तो वह युक्त नहीं है—क्योंकि तब पुरुषाद्वैतको भी स्वयं सिद्धिका प्रसंग आता है, उसमें किसी भी बौद्धको विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।'

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्ध्नि निर्भेद-भयाऽनभिज्ञैः।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने! भवच्छासन-दृक्-प्रमूढैः ॥५८॥

(इस तरह) हे वीर भगवन्! जिन वैतण्डिकोंने—परपक्षके दूषणकी प्रधानता अथवा एकमात्र धुनको लिए हुए संवेदनाद्वैतवादियोंने—कुसृतिका—कुत्सिता गति-प्रतीतिका—प्रणयन किया है उन आपके (स्याद्वाद) शासनकी दृष्टिसे प्रमूढ एवं निर्भेदके भयसे अनभिज्ञ जनोंने (दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेके कारण) परघातक परशु-कुल्हाड़ेको अपने ही मस्तकपर मारा है!! अर्थात् जिस प्रकार दूसरेके घातके लिये उठाया हुआ कुल्हाड़ा यदि अपने ही मस्तकपर पड़ता है तो अपने मस्तकका विदारण करता है और उसको उठाकर चलानेवाले अपने घातके भयसे अनभिज्ञ कहलाते हैं उसी प्रकार परपक्षका निराकरण करने वाले वैतण्डिकोंके द्वारा दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेके कारण जिस न्यायका प्रणयन किया गया है वह अपने पक्षका भी निराकरण करता है और इसलिये उन्हें भी स्वपक्षघातके भयसे अनभिज्ञ एवं दृक्प्रमूढ समझना चाहिये।'

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तु-व्यवस्थाऽङ्गममेयमन्यत् ॥५९॥

तो वह कैसे व्यवस्थित होता है ? नहीं होता। यदि किसी प्रमाणसे जाना जाता है तो वह धर्म-धर्मीके स्वभाव-भावकी तरह वस्तु-धर्म अथवा भावान्तर हुआ। और यदि वह अभाव व्यपदेशको प्राप्त नहीं होता तो कैसे उसका प्रतिपादन किया जाता है ? उसका प्रतिपादन नहीं बनता। यदि व्यपदेशको प्राप्त होता है तो वह वस्तुधर्म अथवा वस्त्वन्तर ठहरा, अन्यथा उसका व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह वह अभाव यदि वस्तु-व्यवस्थाका अंग नहीं तो उसकी कल्पनासे क्या नतीजा ? 'घटमें पटादिका अभाव है' इस प्रकार पटादिके परिहार-द्वारा अभावको घट-व्यवस्थाका कारण परिकल्पित किया जाता है; अन्यथा वस्तुमें सङ्कर दोषोंका प्रसंग आता है—एक वस्तुको अन्य वस्तुरूप भी कहा जा सकता है, जिससे वस्तुकी कोई व्यवस्था नहीं रहती—अतः अभाव वस्तु-व्यवस्थाका अंग है और इस लिये भावकी तरह वस्तुधर्म है।)

'जो अभाव-तत्त्व (सर्वशून्यता) वस्तु-व्यवस्थाका अङ्ग नहीं है वह (भाव-एकान्तकी तरह) अमेय (अप्रमेय) ही है—किसी भी प्रमाणके गोचर नहीं है।'

(इस तरह दूसरोंके द्वारा परिकल्पित वस्तुरूप या अवस्तुरूप सामान्य जिस प्रकार वाक्यका अर्थ नहीं बनता उसी प्रकार व्यक्तिमात्र परस्पर-निरपेक्ष उभयरूप सामान्य भी वाक्यका अर्थ नहीं बनता; क्योंकि वह सामान्य अमेय है—सम्पूर्ण प्रमाणोंके विषयसे अतीत है अर्थात् किसी भी प्रमाणसे उसे जाना नहीं जा सकता।)

विशेष-सामान्य-विषक्त-भेद-
विधि-व्यवच्छेद-विधायि-वाक्यम्।
अभेद-बुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६०॥

'वाक्य (वस्तुतः) विशेष (विसदृश परिणाम) और सामान्य

(सदृश परिणाम) को लिये हुए जो (द्रव्यपर्यायकी अथवा द्रव्य-गुण-कर्मकी व्यक्तिरूप) भेद हैं उनके विधि और प्रतिषेध दोनोंका विधायक होता है।—जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य जिस प्रकार घटके लानेरूप विधिका विधायक (प्रतिपादक) है उसी प्रकार अघटके न लानेरूप प्रतिषेध-का भी विधायक है, अन्यथा उसके विधानार्थ वाक्यान्तरके प्रयोगका प्रसंग आता है और उस वाक्यान्तरके भी तत्प्रतिषेधविधायी न होनेपर फिर दूसरे वाक्यके प्रयोगकी जरूरत उपस्थित होती है और इस तरह वाक्यान्तरके प्रयोगकी कहीं भी समाप्ति न बन सकनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग आता है, जिससे कभी भी घटके लानेरूप विधिकी प्रतिपत्ति नहीं बन सकती। अतः जो वाक्य प्रधानभावसे विधिका प्रतिपादक है वह गौणरूपसे प्रतिषेधका भी प्रतिपादक है और जो मुख्यरूपसे प्रतिषेधका प्रतिपादक है वह गौण-रूपसे विधिका भी प्रतिपादक है, ऐसा प्रतिपादन करना चाहिये।

(हे वीर जिन!) आपके यहाँ—आपके स्याद्वाद-शासनमें—(जिस प्रकार) अभेदबुद्धिसे (द्रव्यत्वादि व्यक्तिकी) अविशिष्टता (समानता) होती है (उसी प्रकार) व्यावृत्ति (भेद) बुद्धिसे विशिष्टताकी प्राप्ति होती है।'

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

'(हे वीर भगवन्!) आपका तीर्थ—प्रवचनरूप शासन, अर्थात् परमागमवाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्त-वान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये हुए है—एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, इसीसे

सुव्यवस्थित है, उसमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सर्व-दुःखोंका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्या-दर्शनके द्वारा खंडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदय-का कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है।'

भावार्थ—आपका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्पर-निरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारी-रिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं, इसलिये इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनोंका अन्त करनेवाला होनेसे आपका शासन समस्त आपदाओंका अन्त करनेवाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थका आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास—सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

(हे वीर जिन!) आपके इष्ट-शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ; उप-पत्ति-चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे—

आपके इष्टका—शासनका—अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृङ्ग खंडित होजाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि आपके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है।'

(शिखरिणी वृत्त[1])

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भव-पाश-च्छिदि मुनौ
न चाऽन्येषु द्वेषादपगुण-कथाऽभ्यास-खलता।
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां
हिताऽन्वेषोपायस्तव गुण-कथा-सङ्ग-गदितः ॥६३॥

'(हे वीर भगवन्!) हमारा यह स्तोत्र आप-जैसे भव-पाश-छेदक मुनिके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है—क्योंकि इधर तो हम परीक्षा-प्रधानी हैं और उधर आपने भव-पाशको छेदकर संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है; ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा राग-भाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बन्ध नहीं है—क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ अर्थात् उनके व्यक्तित्वके प्रति हमारा कोई द्वेष नहीं है—हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इसलिये दूसरोंके प्रति द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश? उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत

1. इससे पूर्वका समग्र ग्रन्थ उपजाति और उपजाति जिनसे मिलकर बनता है उन इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा वृत्तों (छन्दों) में है।

पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ कहा गया है। इसके सिवाय, जिस भव-पाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी इष्ट है और इस लिये यह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका एक हेतु है। इस तरह यह स्तोत्र श्रद्धा और गुणज्ञताकी अभिव्यक्तिके साथ लोक-हितकी दृष्टिको लिये हुए है।'

> इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदश-मुनि-मुख्यैः प्रणिहितैः
> स्तुतः शक्त्या श्रेयःपदमधिगतस्त्वं जिन ! मया।
> महावीरो वीरो दुरित-पर-सेनाऽभिविजये
> विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ ॥६४॥

'हे वीर जिनेन्द्र ! आप चूँकि दुरितपरकी—मोहादिरूप कर्मशत्रुओं-की—सेनाको पूर्णरूपसे पराजित करनेमें वीर हैं—वीर्यातिशयको प्राप्त हैं—, निःश्रेयस पदको अधिगत (स्वाधीन) करनेसे महावीर हैं और देवेन्द्रों तथा मुनीन्द्रों (गणधरदेवादिकों) जैसे स्वयं स्तुत्योंके द्वारा एकाग्रमनसे स्तुत्य हैं, इसीसे मेरे—मुझ परीक्षाप्रधानीके—द्वारा शक्ति-के अनुरूप स्तुति किये गये हैं। अतः' अपने ही मार्गमें—अपने द्वारा अनुष्ठित एवं प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्गमें, जो प्रतिनिधिरहित है—अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे निर्णीत है अर्थात् दूसरा कोई भी मार्ग जिसके जोड़का अथवा जिसके स्थानपर प्रतिष्ठित होनेके योग्य नहीं है—मेरी भक्तिको सविशेष रूपसे चरितार्थ करो—आपके मार्ग-की अमोघता और उससे अभिमत फलकी सिद्धिको देखकर मेरा अनुराग (भक्तिभाव) उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े जिससे मैं भी उसी मार्गकी आराधना-साधना करता हुआ कर्मशत्रुओंकी सेनाको जीतनेमें समर्थ होऊँ और निःश्रेयस (मोक्ष) पदको प्राप्त करके सफल मनोरथ

सच्ची सविवेक-भक्ति ही मार्गका अनुसरण करनेमें परम सहायक होती है और जिसकी स्तुति की जाती है उसके मार्गका अनुसरण करना अथवा उसके अनुकूल चलना ही स्तुतिको सार्थक करता है, इसीसे स्तोत्रके अन्तमें ऐसी फलप्राप्तिकी प्रार्थना अथवा भावना की गई है।'*

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति–सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि–
श्रद्धागुणज्ञतादिसातिशयगुणगणविभूषित–सिद्धसारस्वत-
स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीतं हितान्वेषणोपायभूतं
युक्त्यनुशासनं स्तोत्रं समाप्तम्।



---

* इस स्तोत्रकी श्रीविद्यानन्दाचार्य-विरचित-संस्कृतटीकाके अन्तमें स्तुत्याऽभिनन्दन और ग्रन्थ-प्रशस्त्यादिके रूपमें जो दो महत्वके पद्य पाये जाते हैं वे इस प्रकार हैं:—

स्थेयाज्जातजयध्वजाऽप्रतिनिधिः प्रोद्भूत-भूरिप्रभुः
प्रध्वस्ताऽखिल-दुर्नय-द्विषदिभः सन्नीति-सामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्ग-मथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये
शश्वत्संस्तुति-गोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥१॥
श्रीमद्वीर-जिनेश्वराऽमल-गुण-स्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गाऽनुगै-
र्विद्यानन्द-बुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥२॥

युक्त्यनुशासनकी कारिकाओंका अकारादि-क्रम

समाधितन्त्र की विषयानुक्रमणिका

—:o:—

इष्टोपदेशकी विषयानुक्रमणिका

—:o:—



श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित—

समाधितंत्र

(मंगलाचरण)

सकल विभाव अभावकर, किया आत्म कल्यान ।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूं सिद्ध भगवान ॥१॥

आत्म सिद्धिके मार्गका, जिसमें सुभग विधान ।
उस समाधियुत तंत्रका, करूँ सुगम व्याख्यान ॥२॥

श्रीपूज्यपाद स्वामी मोक्षके इच्छुक भव्यजीवोंको मोक्षका उपाय और मोक्षके स्वरूपको दिखलानेकी इच्छासे शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति आदि फलकी इच्छा करते हुए इष्ट-देवता विशेष श्रीसिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करते हैं ।

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अन्वयार्थ-(येन) जिसके द्वारा (आत्मा) आत्मा (आत्मा एव) आत्मा रूपसे ही (अबुद्ध्यत) जाना गया है (च) और (अपरं) अन्यको--कर्मजनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गलको-- (परत्वेन एव) पररूपसे ही (अबुद्ध्यत) जाना गया है (तस्मै) उस (अक्षयानन्तबोधाय) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप (सिद्धात्मने) सिद्धात्माको (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ--श्रीपूज्यपादस्वामीने श्लोकके पूर्वार्द्धमें मोक्षका उपाय और उत्तरार्द्धमें मोक्षका स्वरूप बताया है तथा सिद्ध परमात्मारूप इष्टदेवताको नमस्कार किया है । यह जीव अनादिकालसे मोह-मदिराका पान कर आत्माके निज चैतन्य स्वरूपको भूल रहा है, अचेतन विनाशीक परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है, तथा चिरकालीन मिथ्यात्वरूप विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे उन परपदार्थोंको अपना हितकारक समझता है और वह आत्माके उपकारी ज्ञान वैराग्यादिक पदार्थोंको, जो कर्मबंधनके छुड़ानेमें निमत्तभूत हैं, दुःखदायी समझता है । जैसे पित्तज्वर वाले रोगीको मीठा दूध कड़वा मालूम होता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवको आत्माका उपकारक मोक्षका उपाय भी विपरीत जान पड़ता है। संसारके समस्त जीव सुख चाहते हैं, और दुःखसे डरते हैं तथा उससे छूटनेका उपाय भी करते हैं, परंतु उस उपायके विपरीत होनेसे चतुर्गतिरूप संसारके दुःख से उन्मुक्त नहीं हो पाते हैं । वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-

चारित्ररूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षकी प्राप्तिका परम उपाय है। इस रत्नत्रयकी परमप्रकर्षतासे ही कर्मोंका दृढ़ बन्धन आत्मा से छूट जाता है और आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थकारने ऐसा ही आशय प्रकट किया है।

जब यह आत्मा सुगुरुके उपदेशसे या तत्त्वनिर्णयरूप संस्कारसे आत्माके स्वरूपको विपरीत बनाने वाले दर्शनमोहनीय-कर्मका उपशमादि कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उस समय आत्मामेंसे विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे होने वाली अचेतन-परपदार्थोंमें आत्मकल्पनारूप बुद्धि दूर हो जाती है। तभी मोक्षो-पयोगी प्रयोजनभूत जीवादि सप्ततत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान व परिज्ञान होता है, और परद्रव्योंसे उदासीन भावरूप चारित्र हो जाता है। इसलिये कर्मबन्धनसे छूटनेका अमोघ उपाय आत्माको आत्मरूप ही, तथा आत्मासे भिन्न कर्मजनित शरीरादि पर पदार्थोंको पर-रूप ही जानना या अनुभव करना है। पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे आत्मा कर्मोंके बन्धनसे छूट जाता है, यही मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

ज्ञानवरणादिक अष्ट कर्मोंसे रहित आत्माकी आत्यंतिक—अन्तमें होने वाली—अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माकी यह अवस्था अत्यन्त शुद्ध और स्वाभाविक होती है—रागादिक औपाधिक भावोंसे रहित है। अथवा यों कहिये कि जीवकी यह अवस्था नित्य निरंजन निर्विकार निराकुल एवं अबाधित सुखको

लिये हुए शुद्ध चिद्रूपमय अवस्था है, जो कि सम्यक्त्वादि अनंत गुणोंका समुदाय है। इस अवस्थाको लिये हुए श्रीसिद्धपरमात्मा चरम शरीरसे किंचित् ऊन लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं।

ग्रन्थकर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामी ने अविनाशी अनन्तज्ञानवाले सिद्धपरमात्माको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ताको शुद्धात्माके प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा थी। जो जिस गुणकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह उस गुणसे युक्त पुरुषको नमस्कार करता है। जैसे धनुर्विद्याके सीखनेका अभिलाषी धनुर्वेदीको नमस्कार करता है। वास्तवमें पूर्णता और कृतकृत्यता-की दृष्टिसे परमदेवपना सिद्धोंमें ही है। इसीसे उक्त श्लोकमें अक्षय-अनन्त-ज्ञानादि-स्वरूप सिद्ध परमात्माको सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

अब उक्त मोक्षस्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायका उपदेश करने वाले सकल परमात्माकी--घातिकर्म रहित जीवन्मुक्त आत्माकी--स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं--

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

अन्वयार्थ--(यस्य) जिस (अनीहितुःअपि) इच्छासे भी रहित (तीर्थकृतः) तीर्थंकरकी (अवदतः अपि) न बोलते हुए भी--तालु-ओष्ठ-आदिके द्वारा शब्दोंका उच्चारण न करते हुए भी (भारतीविभूतयः) वाणीरूपी विभूतियाँ--अथवा वाणी और छत्र त्रयादिक विभूतियाँ (जयन्ति) जयको प्राप्त होती हैं (तस्मै) उस (शिवाय) [1]शिवरूप-परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय (धात्रे) विधाता अथवा ब्रह्मरूप--सन्मार्गके उपदेश द्वारा लोकके उद्धारक (सुगताय) सुगतरूप सद्बुद्धि एवं सद्गतिको प्राप्त (विष्णवे) विष्णुरूप--केवलज्ञानके द्वारा समस्त चराचर पदार्थोंमें व्याप्त होने वाले [2](जिनाय) जिनरूप--संसारपरिभ्रमणके कारणभूत कर्मशत्रुओंको जीतने वाले [3](सकलात्मने) सकलात्माको सशरीर शुद्धात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त अरहंत परमात्माको (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ--इस श्लोकमें आचार्य महोदयने जैनधर्मके अनुसार सकल परमात्मा श्रीअरहंत भगवानका संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है। अरहंत परमात्माका शरीर परमौदारिक है, दिव्य है, ज्ञानावरण,

---

१ शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवःपरिकीर्तितः ।। —आप्तस्वरूपः

२ विश्वं हि द्रव्य पर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ।।३।।

३ रागद्वेषादयो येन जिताः कर्म – महाभटाः ।
कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः ।।२१।। —आप्तस्वरूपः

दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातियाकर्म विनाशसे उन्हें अनन्त चतुष्टयरूप अंतरंग विभूतियाँ प्राप्त तथा समवसरणादि बाह्य विभूतियाँ भी प्राप्त हैं, परन्तु वे बाह्य विभूतियोंसे अलिप्त रहते हैं। मोहनीयकर्मका अभाव जानेसे इच्छाएं अवशिष्ट नहीं रहतीं और इसलिए समवसर बिना किसी इच्छाके तालु-ओष्ठ-आदिके व्यापारसे रहित अर भगवानकी भव्य जीवोंका हित करने वाली धर्मदेशना हु करती है। समवसरण स्तोत्रमें भी कहा है कि—

'दुःखरहित सर्वज्ञकी वह अपूर्ववाणी हमारी रक्षा करे सबके लिये हित रूप है, वर्णरहित (निरक्षरी) है—होटोंका हल चलन व्यापार जिसमें नहीं होता, जो किसी प्रकारकी वांछ को लिये हुए नहीं है, न किसी दोषसे मलिन है, जिसके उच्चा रणमें श्वासका रुकना नहीं होता और जिसे क्रोधादिविनिर्मुक्तों-साधुसन्तोंके साथ सकर्ण पशुओंने भी सुना है।'

इस श्लोककी टीकामें सकलपरमात्मा श्रीअरहंतके विशेषणों-का खुलासा किया गया है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि घातिया कर्मरूपी शत्रुओंको जीतने वाले, रागादि अष्टादश दोषोंसे रहित, परमवीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत ही सच्चे शिव हैं, महादेव हैं, विधाता हैं, विष्णु हैं, सुगत हैं—अन्यमतावलम्बियोंने शिवादिका जैसा स्वरूप बताया है उससे वे वास्तविक शिव या अरहंत नहीं हो सकते हैं; क्योंकि

उस स्वरूपानुसार उनके राग, द्वेष और मोहादिक दोषोंका सद्भाव पाया जाता है ॥२॥

अब ग्रंथकार ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको बतलाते हुए कहते हैं-

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति
समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ-(अथ) परमात्माको नमस्कार करनेके अनंतर [अहं] मैं पूज्यपाद आचार्य (विविक्तं आत्मानं) कर्ममल रहित आत्माके शुद्धस्वरूपको (श्रुतेन) शास्त्रके द्वारा (लिंगेन) अनुमान व हेतुके द्वारा (समाहितान्तःकरणेन) एकाग्र मनके द्वारा (सम्यक्-समीक्ष्य) अच्छी तरह अनुभव करके (कैवल्य-सुखस्पृहाणां) कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रियसुखकी इच्छा रखने वालोंके लिये (यथात्मशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (अभिधास्ये) कहूंगा ।

भावार्थ-यहां पर उस शुद्धात्मस्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा की गई है जिसे ग्रंथकारने शास्त्रज्ञानसे, अनुमानसे और अपने चित्तकी एकाग्रतासे भले प्रकार जाना तथा अनुभव किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह ग्रन्थ उन भव्य पुरुषोंको लक्ष्य करके लिखा जाता हैं जिन्हें कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले बाधा-रहित, निर्मल, अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करनेकी

इच्छा है। शास्त्रसे—समयसारादि जैनागम ग्रन्थोंसे मा
होता है कि आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला
(ज्ञाता-द्रष्टा है) और शेष संयोग-लक्षण वाले समस्त पद
मेरी आत्मासे बाह्य हैं—मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं
अनुमानसे जाना जाता है कि शरीर और आत्मा जुदे-जुदे है
क्योंकि इन दोनोंका लक्षण भी भिन्न-भिन्न है। जिनका लक्ष
भिन्न-भिन्न होता है वे सब भिन्न होते हैं, जैसे जल और आग
इस तरह आगम और अनुमानके सहयोगके साथ चित्तकी एक
ग्रतापूर्वक आत्माका जो साक्षात् अनुभव होता है वह तीस
चीज़ है। इन तीनोंके आधारपर ही इस ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा
की गई है ॥३॥

आत्मा कितने तरहका होता है, जिससे शुद्धात्मा ऐसा विशेष कहा जाता है, और उन आत्माके भेदोंमें किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिये ? ऐसी आशंका दूर करनेके लिये आत्माके भेदोंका कथन करते हैं :—

*बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(सर्वदेहिषु) सर्वप्राणियोंमें (बहिः) बहिरात्मा (अन्तः) अन्तरात्मा (च परः) और परमात्मा (इति) इस तरह

* तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

(त्रिधा) तीन प्रकारका (आत्मा) आत्मा (अस्ति) है। (तत्र) आत्माके उन तीन भेदोंमेंसे (मध्योपायात्) अन्तरात्माके उपाय-द्वारा (परमं) परमात्माको (उपेयात्) अंगीकार करे—अपनावे और (बहिः) बहिरात्माको (त्यजेत्) छोड़े।

भावार्थ—आत्माकी तीन अवस्थाएँ होती है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमेंसे जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी अचेतन पुद्गल-पिंडरूप शरीरादि विनाशीक पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि रहती है, या आत्मा जबतक मिथ्यात्व-अवस्थामें रहता है। तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता है। शरीरादिमें आत्मबुद्धिका त्याग एवं मिथ्यात्वका विनाश होनेपर जब आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा। अन्तरंग-बहिरंग-परिग्रहका त्याग करने वाले, विषय-कषायोंको जीतनेवाले और शुद्ध उपयोगमें लीन होने वाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं, देशव्रतका पालन करनेवाले गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' कहे जाते हैं और तत्त्वश्रद्धाके साथ व्रतोंको न रखने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' रूपसे निर्दिष्ट हैं।

आत्मगुणोंके घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंका नाश करके आत्माके

अनन्त चतुष्टयरूप शक्तियोंको पूर्ण विकसित करने वाले 'प
मात्मा' कहलाते हैं। अथवा आत्माकी परम विशुद्ध अवस्था
'परमात्मा' कहते हैं। यदि कोई कहे कि अभव्योंमें तो एक ब
रात्मावस्था ही संभव है, फिर सर्व प्राणियोंमें आत्माके तीन भे
कैसे बन सकते हैं? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभव्य जी
में भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्तिरूपसे जरू
है, परन्तु उक्त दोनों अवस्थाओंके व्यक्त होनेकी उनमें योग्यत
नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो अभव्योंमें केवल ज्ञान
वरणीय कर्मका बन्ध व्यर्थ ठहरेगा। इसलिये चाहे निकट भव्य हो
दूरान्दूर भव्य हो अथवा अभव्य हो, सबमें तीन प्रकारका आत्म
मौजूद है। सर्वज्ञमें भी भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा घृत-घटके
समान बहिरात्मावस्था और अन्तरात्मावस्था सिद्ध है।

आत्माकी इन तीन अवस्थाओंमेंसे जिनकी परद्रव्यमें
आत्मबुद्धिरूप बहिरात्मावस्था हो रही है उनको प्रथम ही
सम्यक्त्व प्राप्त कर उस विपरीताभिनिवेशमय बहिरात्मावस्थाको
छोड़ना चाहिये और मोक्षमार्गकी साधक अन्तरात्मावस्थामें
स्थिर होकर आत्माकी स्वाभाविक वीतरागमयी परमात्मावस्था-
को व्यक्त करनेका उपाय करना चाहिये ॥४॥

अब बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मामेंसे प्रत्येकका
लक्षण कहते हैं—

*बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीरादिकमें आत्मभ्रान्तिको धरनेवाला—उन्हें भ्रमसे आत्मा समझनेवाला—बहिरात्मा है। (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिःआन्तरः) चित्तके, रागद्वेषादिक दोषोंके और आत्माके विषयमें अभ्रान्त रहनेवाला—उनका ठीक विवेक रखनेवाला अर्थात् चित्तको चित्तरूपसे, दोषोंको दोषरूपसे और आत्माको आत्मरूपसे अनुभव करनेवाला—अन्तरात्मा कहलाता है। (अतिनिर्मलः परमात्मा:) सर्व कर्ममलसे रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

भावार्थ-मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका जैसा स्वरूप जिनेन्द्र देवने बताया है उसको वैसा न मानने वाला बहिरात्मा अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है। दर्शनमोहके उदयसे जीवमें अजीवकी कल्पना और अजीवमें जीवकी कल्पना होती है, दुखदाई रागद्वेषादिक विभाव भावोंको सुखदाई समझ लिया जाता है, आत्माके हितकारी ज्ञान वैराग्यादि पदार्थोंको अहितकारी जानकर उनमें अरुचि अथवा द्वेषरूप प्रवृत्ति होती है और कर्मबंधके शुभाशुभ फलोंमें राग, द्वेष होनेसे उन्हें अच्छे बुरे मान लिया

---

* अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्प-संकप्पो।
कम्म-कलंक-विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥
—मोक्षप्राभृत, कुन्दकुन्दः

जाता है । साथही, इच्छाएँ बलवती होती जाती हैं, विषयोंकी चाहरूप दावानलमें जीव दिन रात जलता रहता है । इसीलिये आत्मशक्तिको खो देता है और आकुलता रहित मोक्ष सुखके खोजने अथवा प्राप्त करनेका कोई प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार जातितत्त्व और पर्यायतत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान न रखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है । चैतन्य लक्षणवाला जीव है, इससे विपरीत लक्षणवाला अजीव है,आत्माका स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, अमूर्तिक है और ये शरीरादिक परद्रव्य हैं, पुद्गलके पिंड हैं, विनाशीक हैं, जड़ हैं, मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ, ऐसा भेदविज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि 'अन्तरात्मा' कहलाता है। अत्यन्त विशुद्ध आत्माको 'परमात्मा' कहते हैं, परमात्माके दो भेद हैं—एक सकलपरमात्मा दूसरा निष्कलपरमात्मा । जो चार घातिया कर्ममलसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और समवसरणादिरूप बाह्यलक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं उन सर्वज्ञ वीतराग परमहितोपदेशी आत्माओंको 'सकलपरमात्मा' या 'अरहन्त' कहते हैं । और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममलोंका नाश कर दिया है, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, निजानन्द निर्भर-निजरसका पान किया करते हैं तथा अनन्तकाल तक आत्मोत्थ स्वाधीन निराकुल सुखका अनुभव करते हैं उन कृतकृत्योंको 'निष्कलपरमात्मा' या 'सिद्ध' कहते हैं ॥५॥

अब परमात्माके वाचक अन्य प्रसिद्ध नाम बतलाते हैं—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

अन्वयार्थ—(निर्मलः) निर्मल—कर्मरूपीमलसेरहित (केवलः) केवलशरीरादिपरद्रव्यके सम्बंधसे रहित (शुद्धः) शुद्ध—द्रव्य और भावकर्मसे रहित होकर परमविशुद्धिको प्राप्त (विविक्तः) विविक्त—शरीर और कर्मादिके स्पर्शसे रहित (प्रभुः) प्रभु—इन्द्रादिकोंका स्वामी (अव्ययः) अव्यय—अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभावसे च्युत न होने वाला (परमेष्ठी) परमपदमें स्थिर (परात्मा) परमात्मा—संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट आत्मा (ईश्वरः) ईश्वर—अन्य जीवोंमें असम्भव ऐसी विभूतिका धारक और (जिनः) जिन—ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म शत्रुओंको जीतनेवाला (इति परमात्मा) ये परमात्माके नाम हैं ।

भावार्थ—आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड है । परमात्मामें उन सब गुणोंके पूर्ण विकसित होनेसे परमात्माके उन गुणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । इसीसे परमात्माको अजर, अमर, अक्षय, अरोग, अभय, अविकार, अज, अकलंक, अशंक, निरंजन, सर्वज्ञ, वीतराग, परमज्योति, बुद्ध, आनन्दकन्द, शास्ता और विधाता जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है ॥६॥

अब यह दिखलाते हैं कि बहिरात्माके देहमें आत्मत्व बुद्धि होनेका क्या कारण है—

*बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितःस्वात्मनो+देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

अन्वयार्थ—[यतः] चूंकि (बहिरात्मा) बहिरात्मा (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियद्वारोंसे (स्फुरितः) बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुआ (आत्मज्ञानपराङ्मुखः) आत्मज्ञानसे पराङ्मुख [भवति, ततः] होता है इसलिये (आत्मनः देहं) अपने शरीरको (आत्मत्वेन अध्यवस्यति) आत्मरूपसे निश्चय करता है—अपना आत्मा समझता है ?

भावार्थ—मोहके उदयसे बुद्धिका विपरीत परिणमन होता है। इसी कारण बहिरात्मा इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आने वाले बाह्य मूर्तिक पदार्थों को ही अपने मानता है । उसे अभ्यन्तर आत्मतत्त्वका कुछ भी ज्ञान या प्रतिभास नहीं होता है । जिस प्रकार धतूरेका पान करने वाले पुरुषको सब पदार्थ पीले मालूम पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार मोहके उदयसे उन्मत्त हुए जीवोंको अचेतन शरीरादि पर पदार्थ भी चेतन और स्वकीय जान पड़ते हैं। इसी दृष्टिविकारसे आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान नहीं हो पाता, और इसलिये यह जीवात्मा शरीरको

---

* बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥ ८ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

\+ "स्फुरितश्चात्मनो देह" इत्यपि पाठान्तरं ।

उत्पत्तिसे अपनी उत्पत्ति और शरीरके विनाशसे अपना विनाश समझता है ॥७॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धी शरीर भेदसे जीवभेदकी मान्यताको बतलाते हैं—

*नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यंचं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥८॥

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान्) मूढ बहिरात्मा (नरदेहस्थं) मनुष्य-देहमें स्थित (आत्मानं) आत्माको (नरम्) मनुष्य, (तिर्यगङ्गस्थं) तिर्यंच शरीरमें स्थित आत्माको (तिर्यंचं) तिर्यंच (सुराङ्गस्थं) देवशरीरमें स्थित आत्माको (सुरं) देव (तथा) और (नारकाङ्गस्थं) नारकशरीरमें स्थित आत्माको (नारकं) नारकी (मन्यते) मानता है। किन्तु (तत्त्वतः) वास्तवमें—शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे (स्वयं) कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध आत्मा (तथा न) मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीरूप नहीं है (तत्त्वतस्तु) निश्चय नयसे तो यह आत्मा (अनंतानंतधीशक्तिः) अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त-

---

* "सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यंचं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥ ३२—१३ ॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥ -१४ ॥"

—ज्ञानार्णवे, शुभचंद्रः ।

शक्तिरूप वीर्यका धारक है। (स्वसंवेद्यः) स्वानुभवगम्य है—अपने द्वारा आप अनुभव किये जाने योग्य है और (अचल-स्थितिः) अपने उक्त स्वभावसे कभी च्युत न होने वाला—उसमें सदा स्थिर रहने वाला है।

भावार्थ—यह अज्ञानी आत्मा कर्मोदयसे होने वाली नर-नारकादिपर्यायोंको ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है। उसे ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वरूप इन दृश्यमान पर्यायों-से सर्वथा भिन्न है। भले ही इन पर्यायोंमें यह मनुष्य है, यह पशु है इत्यादि व्यवहार होता है, परन्तु ये सब अवस्थाएँ कर्मोदय-

वह इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगादिमें दुखी ही होता है इसलिये आत्महितैषियोंको चाहिये कि वहिरात्मावस्थाको अत्यन्त हेय समझकर छोड़ें और सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा होकर समीचीन मोक्षमार्गका साधन करें ॥ ८-६ ॥

अपने शरीरमें ऐसी मान्यता रखनेवाला वहिरात्मा दूसरेके शरीरमें कैसी बुद्धि रखता है, इसे आगे बतलाते हैं--

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्*।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

अन्वयार्थ--(मूढः) अज्ञानी वहिरात्मा (परात्माधिष्ठितं) अन्यकी आत्मासहित (अचेतनं) चेतनारहित (परदेहं) दूसरेके शरीरको (स्वदेहसदृशं) अपने शरीरके समान इन्द्रियव्यापार तथा वचनादि व्यवहार करता हुआ (दृष्ट्वा) देखकर (परत्वेन) परका आत्मा (अध्यवस्यति) मान लेता है।

भावार्थ--अज्ञानी वहिरात्मा जैसे अपने शरीरको अपना आत्मा समझता है उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-मित्रादिके अचेतन शरीरको स्त्री-पुत्र-मित्रादिका आत्मा समझता है और अपने

---

* णियदेहसरित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम्।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ॥ ३२-१५ ॥
—ज्ञानार्णवे, शुभचंद्रः।

स्वरूपको न जानकर अपने शरीरके साथ स्त्री-पुत्र-मित्रादिकके शरीर-सम्बन्धको ही अपनी आत्माका सम्बन्ध समझता है और इसी कारण उनको अपना उपकारक मानता है, उनकी रक्षाका यत्न करता है, उनके संयोग तथा वृद्धिमें सुखी होता है, उनके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। और यदि कदाचित् उनका वर्ताव अपने प्रतिकूल देखता है तो अत्यन्त शोक भी करता है तथा भारी दुःख मानता है। वस्तुतः जिस प्रकार पक्षीगण नाना दिग्देशोंसे आकर रात्रिमें एक वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही गमके सब अपने-अपने अभीष्ट (इच्छित) स्थानोंको चले जाते हैं। उसी प्रकार ये संसारके समस्त जीव नाना गतियों से आकर कर्मोदयानुसार एक कुटुम्बमें जन्म लेते हैं व रहते हैं। यह मूढ़ात्मा व्यर्थ ही उनमें निजत्व-की बुद्धि धारणकर आकुलित होता है। अन्तरात्माकी ऐसी बुद्धि न होनेसे वह परद्रव्य में आसक्त नहीं होता, और इसीसे स्त्री-पुत्रादि-विषयक विभ्रमसे बचा रहता है ॥११॥

स्त्री पुत्रादिमें ममत्वबुद्धि-धारणरूप विभ्रमका क्या परिणाम होता है, उसे बतलाते हैं—

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः*।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

---

* मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ ॥११॥
—मोक्षप्राभृत, कुन्दकुन्दः।

को एतेन) शरीरके साथ (युनक्ति) जोड़ता–बांधता है। किन्तु (स्वात्मनि एव आत्मधीः) अपनी आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा (देहिनं) अपनी आत्माको (तस्मात्) शरीरके सम्बन्धसे (वियोजयति) पृथक् करता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा शरीरको ही आत्मा मानता है और इस प्रकारकी मान्यतासे ही आत्माके साथ नये-नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है, जिससे यह अज्ञानी-जीव अनन्तकाल तक इस गहन-संसार-वनमें भटकता फिरता है और कर्मोंके तीव्रतापसे सदा पीड़ित रहता है। जब शरीरसे ममत्व छूट जाता है, अर्थात् शरीरको अपने चैतन्यस्वरूपसे भिन्न पुद्-गलका पिंड समझ लिया जाता है और आत्माके निज ज्ञान-दर्शन स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है तब यह जीव सम्य-ग्दृष्टि अन्तरात्मा होकर तपश्चरण अथवा ध्यानादिकके द्वारा अपने आत्माको शरीरादिकके बन्धनसे सर्वथा पृथक् कर लेता है और सदाके लिए मुक्त हो जाता है। अतएव बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होना चाहिए और परमात्मपदको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥

शरीरोंमें आत्माके सम्बन्धको जोड़नेवाले बहिरात्माके निन्दनीय व्यापारको दिखाते हुए आचार्य महोदय अपना खेद प्रकट करते हैं—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(देहे) इस जड शरीरमें (आत्मधीः एव) आत्म-बुद्धिका होना ही (संसारदुःखस्य) संसारके दुःखोंका (मूलं) कारण है । (ततः) इसलिए (एनां) शरीरमें आत्मत्वकी मिथ्या कल्पना-को (त्यक्त्वा) छोड़ कर (बहिरव्यापृतेन्द्रियः) बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ (अन्तः) अन्तरंगमें अर्थात् आत्मामें ही (प्रविशेत्) प्रवेश करे ।

भावार्थ—संसारके जितने भी दुःख और प्रपंच हैं वे सब शरीरके साथ ही होते हैं । जब तक इस जीवकी बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही आत्मासे शरीरका सम्बन्ध होता रहता है और घोर दुःखोंको भोगना पड़ता है । जब इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्वभाव छूट जाता है तब किसी भी बाह्यपदार्थमें अहंकार-ममकाररूप बुद्धि नहीं होती तथा तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होनेसे आत्मा परम सन्तुष्ट होता है । और साधकभावकी पूर्णता होने पर स्वयमेव साध्यरूप बन जाता है । इसी कारण इस ग्रंथमें ग्रंथकारने समस्त दुःखोंकी जड़ शरीर-में आत्मबुद्धिका होना बताया है और उसके छुड़ानेकी प्रेरणाकी है । अतः संसारके समस्त दुःखोंका मूल कारण देहमें आत्मकल्प-नारूप बुद्धिका परित्यागकर अन्तरात्मा होना चाहिये, जिससे घोर दुखोंसे छुटकारा मिले और सच्चे निराकुल सुखकी प्राप्ति होवे ॥१५

जोपं वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चिंतायामपि यातुमिच्छतिमनो दोषैः समं पंचताम् ।"

अर्थात्—आत्माका अनुभव होने पर रस विरस हो जाता है, गोष्ठी कथा और कौतुकादि सब नष्ट हो जाते हैं, विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, शरीरसे भी ममत्व नहीं रहता, वाणी भी मौन धारण कर लेती है और आत्मा सदा अपने शांत रसमें लीन हो जाता है तथा मनके दोषोंके साथ साथ चिंता भी दूर हो जाती है।

इसी कारण यह जीव जिन भोगोंको पहले मिथ्यात्व दशामें सुखका कारण समझकर भोगा करता था उन्हींके लिए सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होने पर पश्चात्ताप करने लगता है। यह सब भेदविज्ञानकी महिमा है ॥ १६ ॥

अब आचार्य आत्माको जाननेका उपाय प्रकट करते हुए कहते हैं—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(एवं) आगे कहे जानेवाली रीतिके अनुसार (बहिर्वाचं) बाह्यार्थवाचक वचन प्रवृत्तिको (त्यक्त्वा) त्यागकर (अन्तः) अन्तरंग वचनप्रवृत्तिको भी (अशेषतः) पूर्णतया (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिये। (एषः) यह बाह्याभ्यन्तररूपसे जल्पत्यागलक्षणवाला (योगः) योग—स्वरूपमें चित्तनिरोध-

शरीरादिकरूपी पदार्थ (दृश्यते) दिखाई दे रहा है (तत्) वह अचेतन होनेसे (सर्वथा) बिल्कुल भी (न जानाति) नहीं जानता और (जानत रूपं) जो पदार्थोंको जानने वाला चैतन्यरूप है वह (न-दृश्यते) मुझे इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता (ततः अहं) इस लिये मैं (केन) किसके साथ (ब्रवीमि) बात करूं।

भावार्थ--जो अपनेको दिखाई पड़े और अपने अभिप्राय-को समझे उसीके साथ बात-चीत करना या बोलना उचित है। इसी आशयको लेकर अन्तरात्मा द्रव्यार्थिकनयको प्रधानकर अपने मनको समझाता है कि--जो जाननेवाला चैतन्य द्रव्य है वह तो मुझे दिखाई नहीं देता और जो इन्द्रियोंके द्वारा रूपी शरीरादिक जड़ पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे चेतनारहित होनेसे कुछ भी नहीं जानते हैं, तब मैं किससे बात करूं? किसीसे भी वार्तालाप करना नहीं बनता। इसलिए मुझे अब चुपचाप [मौनयुक्त] रहना ही मुनासिब है। ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद स्वामीने विभाव-भाव रूप झंझटोंसे छूटने और वचनादिको वशमें करनेका यह अच्छा सरल एवं उत्तम उपाय बतलाया है ॥१८॥

इस प्रकार बाह्य विकल्पोंके त्यागका प्रकार बतलाकर अब आभ्यन्तर विकल्पोंके छुड़ानेका यत्न करते हुए आचार्य कहते हैं—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

भावार्थ—जबतक आत्मामें अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य अथवा क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंका विकास नहीं होता तबतक ही आत्मा विभाव-भावोंसे मलिन होकर अग्राह्यका ग्राहक होता है अथवा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता कहलाता है; किन्तु जब समस्त विभाव-भावोंका अभावकर आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता-द्रष्टा हुआ आत्मद्रव्यमें स्थिर हो जाता है तब वह अपने गृहीत स्वरूपसे च्युत नहीं होता और तभी उसे परमब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। जीवकी यह स्थिति ही उसकी वास्तविक स्थिति है ॥२०॥

'इस प्रकारके आत्मज्ञानके पूर्व मेरी कैसी चेष्टा थी', अन्त-रात्माके इस विचारका उल्लेख करते हैं—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(स्थाणौ) स्थाणुमें (उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः) उत्पन्न हो गई है पुरुषपनेकी भ्रान्ति जिसको ऐसे मनुष्यको (यद्वत्) जिस प्रकार (विचेष्टितम्) विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है (तद्वत्) उसी प्रकारकी (देहादिषु) शरीरादिक परपदार्थोंमें (आत्मविभ्रात्) आत्माका भ्रम होनेसे (पूर्वं) आत्मज्ञानसे पहले (मे) मेरी (चेष्टितम्) चेष्टा थी ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जैसे कोई पुरुष

रात्मा विचार करता है कि पूर्व मिथ्यात्व-दशामें जब मैं मोहोदय-से शरीरको ही आत्मा समझता था तब मैं इन्द्रियोंका दास था, उनकी साता परिणतिमें सुख और असाता परिणतिमें ही दुःख मानता था, किन्तु अब विवेक-ज्योति का विकास हुआ—आत्मा चैतन्यस्वरूप है, बाकी सब पदार्थ अचेतन हैं–जड़ हैं; आत्मासे भिन्न हैं, इस प्रकारके जड़ और चैतन्यके भेद-विज्ञान से मुझे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई और शरीरादि-कके विषयमें होने वाला आत्म-विषयक मेरा भ्रम दूर होगया है। इसीसे शरीरके संस्कारादि विषयमें मेरी अब उपेक्षा होगई है—मैं समझने लगा हूँ कि शरीरादिकके बनने अथवा बिगड़नेसे मेरे आत्माका कुछ भी बनता अथवा बिगड़ता नहीं है और इसीसे शरीरादिकी अनावश्यक चिंताको छोड़कर अब मैं सविशेषरूपसे आत्म-चिन्तनमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥२२॥

अब आत्मामें स्त्री आदि लिङ्गोंके तथा एकत्वादि संख्याके भ्रमको दूर करनेके लिये और इन विकल्पोंसे रहित आत्माका असाधारणस्वरूप दिखलानेके लिये कहते हैं—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः॥२३॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (आत्मना) चैतन्यस्वरूपसे (अहम्) मैं (आत्मनि) अपनी आत्मामें ही (आत्मना) अपने स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा (आत्मनैव) अपनी आत्माको आप ही

(अनुभूये) अनुभव करता हूं (सः) वही शुद्धात्मस्वरूप (अहं) मैं (न तत्) न तो नपुंसक हूं (न सा) न स्त्री हूं (न असौ) न पुरुष हूं (न एकः) न एक हूं (न द्वौ) न दो हूं (वा) और (न बहुः) न बहुत हूं।

भावार्थ––अन्तरात्मा विचार करता है कि लोकमें स्त्री-पुरुष आदिका व्यवहार केवल शरीरको लेकर होता है; इसी प्रकार एक दो और बहुवचनका व्यवहार भी शरीराश्रित है अथवा गुण गुणीकी भेदकल्पनाके कारण होता है; जब शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है तब मुझमें लिंगभेद और वचनभेद कैसे बन सकता है? ये स्त्रीत्वादिधर्म तो कर्मजनित अवस्थाएं हैं, मेरा निजरूप नहीं हैं मेरा शुद्ध चैतन्य स्वरूप इन सबसे परे है ॥ २३ ॥

यदि कोई पूछे कि जिस आत्मस्वरूप से तुम अपनेको अनुभव करते हो वह कैसा है, उसे बतलाते हैं।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ––(यत अभावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपके प्राप्त न होनेसे (अहं) मैं (सुषुप्तः) अब तक गाढ़ निद्रामें पड़ा रहा हूँ–– मुझे पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान न हो सका– (पुनः) और (यत् भावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि होने पर मैं (व्युत्थितः) जागरित हुआ हूँ––यथावत् वस्तुस्वरूपको जानने लगा हूँ (तत्)

यह शुद्धात्मस्वरूप (अतीन्द्रियं) इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है (अनिर्देश्यं) वचनोंके भी अगोचर है--कहा नहीं जाता । वह तो (स्वसंवेद्यं) अपने द्वारा आपही अनुभव करने योग्य है । उसी रूप (अहं अस्मि) मैं हूँ ।

भावार्थ—जब तक इस जीवको शुद्ध चैतन्यरूप अपने निज-स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढ़-निद्रामें पड़ा हुआ सोता रहता है; किन्तु जब अज्ञानभावरूप निन्द्राका विनाश हो जाता है और शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है उसी समयसे यह जागरित कहलाता है । संसारके रागी जीव व्यवहारमें जागते हैं किन्तु अपने आत्मस्वरूपमें सोते हैं; परन्तु आत्मज्ञानी संयमी पुरुष व्यवहारमें सोते हैं और आत्मस्वरूपमें सदा सावधान एवं जाग्रत रहते हैं* ॥ २४ ॥

आत्मस्वरूपका अनुभव करने वालेकी आत्मामें रागादि दोषोंका अभाव हो जानेसे शत्रु-मित्रकी कल्पना ही नहीं होती, ऐसा दिखाते हैं—

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
—गीता २-६९

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

अन्वयार्थ--(मां) मेरे आत्मस्वरूपको (अपश्यन्) नहीं देखता हुआ (अयं लोकः) यह अज्ञ प्राणिवृन्द (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है तथा (मां) मेरे आत्म स्वरूपको (प्रपश्यन्) देखता हुआ (अयं लोकः) यह प्रबुद्ध-प्राणिगण (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है ।

भावार्थ--आत्मज्ञानी विचारता है कि शत्रु-मित्रकी कल्पना परिचित व्यक्तिमें ही होती है---अपरिचित व्यक्तिमें नहीं । ये संसारके बेचारे अज्ञप्राणी जो मुझे देखते जानते ही नहीं--मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्मचक्षुओंके अगोचर है---वे मेरे विषयमें शत्रु-मित्रकी कल्पना कैसे कर सकते हैं ? और जो मेरे स्वरूपको जानते हैं---मेरे शुद्धात्मस्वरूपका साक्षात् अनुभव करते हैं---उनके रागद्वेषका अभाव हो जानेसे शत्रु-मित्रताके भावकी उत्पत्ति नहीं बनती, फिर वे मेरे शत्रु वा मित्र कैसे बन सकते हैं ? इस तरह अज्ञ और विज्ञ दोनों ही प्रकारके जीव मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं ॥ २६ ॥

बहिरात्मपनेका त्याग होने पर अन्तरात्माके परमात्मपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहते हैं---

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ--(एवं) इस प्रकार (बहिरात्मानं) बहिरात्मपनेको (त्यक्त्वा) छोड़कर (अंतरात्मव्यवस्थितः) अंतरात्मामें स्थित होते हुए (सर्वसंकल्पवर्जितं) सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित (परमात्मानं) परमात्माको (भावयेत्) ध्याना चाहिए ।

भावार्थ--बहिरात्मावस्थाको अत्यंत हेय (त्यागने योग्य) समझकर छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपका ज्ञायक अन्तरात्मा होकर जगतके दंद-फंद चिंता आदिसे मुक्त हुआ आत्मोत्थ स्वाधीन सुखकी प्राप्तिके लिये परमात्माके चिंतन आराधन पूर्वक तद्रूप बननेकी भावना करनी चाहिये ॥२७॥

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि* स्थितिम् ॥२८॥

अन्वयार्थ--(तस्मिन्) उस परमात्मपदमें (भावनया) भावना करते रहनेसे (सः अहं) 'वह अनन्तज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ' (इति) इस प्रकारके (आत्तसंस्कारः) संस्कारको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष (पुनः) फिर फिर उस परमात्मपदमें आत्मस्वरूपकी भावना करता हुआ (तत्रैव) उसी परमात्मस्वरूपमें (दृढसंस्कारात्

---

* ह्यात्मनः इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ

संस्कारकी दृढ़ताके होजानेसे (हि) निश्चयसे (आत्मनि) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें (स्थितिं लभते) स्थिरताको प्राप्त होता है।

भावार्थ--जब 'सोऽहम्'की दृढ़ भावना द्वारा परमात्मपदके साथ जीवात्माकी एकत्व बुद्धि हो जाती है तभी इस जीवको अपनी अनन्तचतुष्टयरूप निधिका परिज्ञान हो जाता है और वह अपनेको वीतरागी परमआनन्दस्वरूप मानने लगता है। उस समय काल्पनिक क्षणिक सांसारिक सुखके कारण बाह्यपदार्थोंमें उसका ममत्व छूट जाता है, रागद्वेषकी मंदता हो जाती है और अभेदबुद्धिसे परमात्मस्वरूपका चिंतवन करते करते आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है। इसीको आत्मलाभ कहते हैं, जिसके फलस्वरूप आत्मा अनन्तकाल तक निराकुल अनुपम स्वाधीनसुखका भोक्ता होता है। अतः 'सोऽहम्' की यह भावना बड़ी ही उपयोगी है, उसके द्वारा अपने आत्मामें परमात्मपदके संस्कार डालने चाहियें ॥२८॥

यदि कोई आशंका करे कि परमात्माकी भावना करना तो बड़ा कठिन कार्य है, उसमें तो कष्ट परम्पराके सद्भावके कारण भय बना रहता है, फिर जीवोंकी प्रवृत्ति उसमें कैसे हो सकती है? ऐसी आशंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं--

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ--(मूढात्मा) अज्ञानी बहिरात्मा (यत्र) जिन

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि) सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियोंको (संयम्य) अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर (स्तिमितेन) स्थिर हुए (अन्तरात्मना) अन्तःकरणके द्वारा (क्षणं पश्यतः) क्षणमात्रके लिए अनुभव करने वाले जीवके (यत्) जो चिदानन्दस्वरूप (भाति) प्रतिभासित होता है । (तत्) वही परमात्मनः) परमात्माका (तत्त्वं) स्वरूप है ।

भावार्थ——परमात्माका अनुभव प्राप्त करनेके लिए स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर मनको स्थिर करना चाहिये। अर्थात् उसे अन्तर्जल्पादिरूप संकल्प-विकल्पसे मुक्त करना चाहिये। ऐसा होनेपर जो अन्तरंगावलोकन किया जावेगा उसीसे शुद्ध चैतन्यमय परमात्मस्वरूपका अनुभव हो सकेगा। इन्द्रियों द्वारा ज्ञेयपदार्थोंमें भ्रमती हुई चित्तवृत्तिको रोके बिना कुछ भी नहीं बनता। अतः आत्मानुभवके लिए उसे रोकनेका सबसे पहले प्रयत्न होना चाहिये ॥३०॥

अब यह बतलाते हैं कि परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति किसकी आराधना करने पर होगी—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः *कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

* 'नाज्ञः' इति पाठान्तर ग' प्रतौ ।

भावार्थ—जिस परमात्मपदके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है वह शक्तिरूपसे इस आत्मामें ही मौजूद है; किन्तु उसकी व्यक्ति अथवा प्राप्ति इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्यका सुदृढ़ अभ्यास करनेसे होती है। इसलिए हमें चाहिए कि हम जीवन्मुक्त परमात्माके दिव्य उपदेशका मनन करके उसके नक्शे-क़दम पर चलें और उन जैसी वीतराग-ध्यानमयी शांत-मुद्रा बनकर चैतन्य जिनप्रतिमा बननेकी कोशिश करें तथा उनकी सौम्याकृतिरूप प्रतिबिम्बका चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित करें। इस तरह आत्मस्वरूपके साधक कारणोंको उपयोगमें लाकर स्वयं ही परमात्मपद प्राप्त करें और निजानन्द-रसका पान करते हुए अनन्तकाल तक अनन्त सुखमें मग्न रहें ॥ ३२ ॥

इस प्रकार जो शरीरसे आत्माको भिन्न नहीं जानता है उसके प्रति कहते हैं:—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(एवं) उक्त प्रकारसे (यः) जो (अव्ययं) अविनाशी (आत्मानं) आत्माको (देहात्) शरीरसे (परं न वेत्ति) भिन्न नहीं जानता है (सः) वह (परमं तपः तप्त्वापि) घोर तपश्चरण करके भी (निर्वाणं) मोक्षको (न लभते) प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ—संसारमें दुःखका मूल कारण आत्मज्ञानका अभाव

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(आत्मदेहांतरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः) आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह (तपसा) तपके द्वारा—द्वादश प्रकारके तपद्वारा उदयमें लाये हुए (घोरं दुष्कृतं) भयानक दुष्कर्मोंके फलको (भुञ्जानः अपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते) खेदको प्राप्त नहीं होता है ।

भावार्थ—जिस समय इस जीवके अनुभवमें शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं, उस समय शारीरिक विषय-सुखोंके लिये पर-पदार्थकी सारी चिन्तायें मिट जाती हैं, उसके फलस्वरूप आत्मा परमानन्दमें लीन हो जाता है—उसे दुखका अनुभव ही नहीं होता । क्योंकि संसारमें इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग और भूख-प्यासादिजन्य जितने भी दुःख हैं वे सब शरीरके आश्रित हैं—शरीरको आत्मा माननेसे उन सब दुखोंमें भाग लेना पड़ता है । जब भेद विज्ञानके द्वारा शरीरसे ममत्व छूटकर आत्मा स्वरूपमें स्थिर हुआ आनन्दमग्न होजाता है तब वह तपश्चरणके कष्टोंको महसूस नहीं करता और न तपश्चरणके अवसर पर आए हुए उपसर्गादिकोंसे खेदखिन्न ही होता है । उसका आनन्द अबाधित रहता है ॥ ३४ ॥

जिन्हें तपश्चरण करते हुए खेद होता है उन्हें आत्मस्वरूप-की उपलब्धि नहीं हुई ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्तत्त्वं स तत् तत्त्वं* नेतरो जनः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(यन्मनोजलम्) जिसका मनरूपी जल (राग-द्वेषादिकल्लोलैः) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरंगोंसे (अलोलं) चंचल नहीं होता (सः) वही पुरुष (आत्मनः तत्त्वम्) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (पश्यति) देखता है—अनुभव करता है—(तत् तत्त्वम्) उस आत्मतत्त्वको (इतरो जनः) दूसरा राग द्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलितचित्त मनुष्य (न पश्यति) नहीं देख सकता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार तरंगित जलमें जलस्थित वस्तुका ठीक प्रतिभास नहीं होता—वह दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार राग-द्वेषादि-कल्लोलोंसे आकुलित हुए सविकल्प मनद्वारा आत्मा-का दर्शन नहीं होता । आत्मदर्शनके लिए मनको निर्विकल्प बनाना होगा । वास्तवमें निर्विकल्प मन ही आत्मतत्त्व है—सवि-कल्प मन नहीं ॥३५॥

आगे इसी आत्मतत्त्वके वाच्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रांतिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

---

* तत्तत्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके ।

अन्वयार्थ-(अविक्षिप्तं) रागादिपरिणतिसे रहित तथा शरीर और आत्माको एक माननेरूप मिथ्या अभिप्रायसे रहित जो स्वरूपमें स्थिर है (मनः) वही मन है (आत्मनः तत्त्वं) आत्माका वास्तविक रूप है और (विक्षिप्तं) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्माके भेदज्ञानसे शून्यमन है वह (आत्मनः भ्रान्तिः) आत्माका विभ्रम है—आत्माका निजरूप नहीं है (ततः) इसलिये तत् (अविक्षिप्तं) उस रागद्वेषादिसे रहित मनको (धारयेत्) धारण करना चाहिये और (विक्षिप्तं) रागद्वेषादिसे क्षुब्ध हुए मनको न आश्रयेत् आश्रय नहीं देना चाहिये।

भावार्थ--जिस समय ज्ञानस्वरूप शुद्ध मन, रागादिक विभावभावोंसे रहित होकर शरीरादिक बाह्य पदार्थोंसे आत्माको भिन्न चैतन्यमय एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है तथा उसमें तन्मय हो जाता है, उस समय उस अविक्षिप्त एवं निर्विकल्प मनको 'आत्मतत्त्व' समझना चाहिये। परन्तु जब उसमें विकल्प उठने लगते हैं तब उसे आत्मतत्त्व न कहकर 'आत्मभ्रान्ति' कहना चाहिये। अतः आत्म लाभके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने मनको डांवाडोल न रखकर स्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ प्रयत्न करें, क्योंकि मनकी अस्थिरता ही रागादि परिणतिका कारण है ॥ ३६ ॥

किस कारणसे मन विक्षिप्त होता है और किस कारणसे अविक्षिप्त, आगे इसी बातको बतलाते हैं—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारैः) शरीरादिकको शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा (मनः) मन (अवशं) स्वाधीन न रहकर (क्षिप्यते) विक्षिप्त हो जाता है—रागी द्वेषी बन जाता है और (तदेव) वही मन (ज्ञानसंस्कारैः) आत्म-देहके भेद विज्ञानरूप संस्कारों-द्वारा (स्वतः) स्वयं ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूपमें (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—मनके विक्षिप्त होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है और उसके अविक्षिप्त रहनेका कारण है ज्ञानाभ्यास । अतः परद्रव्यमें आत्मबुद्धि आदिरूप अज्ञानके संस्कारोंको हटाना चाहिये और स्व-पर-भेदविज्ञानके अभ्यासरूप ज्ञानके संस्कारोंको बढ़ाना चाहिये जिससे स्वरूपकी उपलब्धि एवं आत्मस्वरूपमें स्थिति हो सके ॥ ३७ ॥

चित्तके विक्षिप्त और अविक्षिप्त होने पर फल विशेषको दर्शाते हुए कहते हैं—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः) जिसके चित्तका (विक्षेपः)

रागादिरूप परिणमन होता है (तस्य) उसीके (अपमानादयः) अपमानादिक होते हैं । (यस्यचेतसः) जिसके चित्तका (क्षेपः न) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता (तस्य) उसके (अपमानादयः न) अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं ।

भावार्थ—जब तक चित्तमें रागद्वेषादिक विभावरूप कुत्सित संस्कारोंका सम्बन्ध रहता है तभी तक मन साधारणसे भी बाह्य निमित्तोंको पाकर क्षुभित हो जाता है और अमुक पुरुषने मेरा मान भंग किया, अमुकने मेरा तिरस्कार किया, मुझे नीचा दिखाया इत्यादि कल्पनाएँ करके दुःखित होता है । परन्तु जब विक्षेपका मूलकारण राग-द्वेष-मोह-भाव दूर हो जाता है तब वह अपने अपमानादिकको महसूस नहीं करता और न उस प्रकारकी कल्पनाएं ही उसे सताती हैं ॥३८॥

अब अपमानादिकके दूर करनेका उपाय बतलाते हैं—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतःक्षणात् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यदा) जिस समय (तपस्विनः) किसी तपस्वी अन्तरात्माके (मोहात्) मोहनीय कर्मके उदयसे (रागद्वेषौ) राग और द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न हो जावें (तदा एव) उसी समय वह तपस्वी (स्वस्थं आत्मानं) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी (भावयेत्) भावना करे । इससे वे रागद्वेषादिक (क्षणात्) क्षणभरमें (शाम्यतः) शांत हो जाते हैं ।

भावार्थ—इन राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिरूप कषायोंकी उत्पत्तिका मूल कारण अज्ञान है। शरीर और आत्माका भेद-विज्ञान न होनेसे ही ये मनोविकार चित्त-की निश्चल वृत्तिको चलायमान कर देते हैं। कषायोंके विनाश-का एक मात्र उपाय आत्मस्वरूपका चिंतन करना है। जैसे ग्रीष्मकालीन सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके तापसे संतप्त हुए मानव के लिए शीतल जलका पान, स्नान, चन्दनादिकका लेप और वृक्षकी सघन छायाका आश्रय उसके उस तापको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार मोहरूपी सूर्यकी प्रचण्ड कषायरूपी किरणोंसे संतप्त हुए अन्तरात्माके लिये अपने शुद्ध स्वरूपका चिंतन ही उस तापसे छुड़ानेका एकमात्र उपाय है ॥ ३९ ॥

अब उन राग और द्वेषके विषय तथा विपक्षको दिखाते हुए कहते हैं—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ—(यत्र काये) जिस शरीरमें (मुनेः) मुनिका—अन्तरात्माका (प्रेम) प्रेम-स्नेह है (ततः) उससे (बुद्ध्या) भेद विज्ञानके आधार पर (देहिनम्) आत्माको (प्रच्याव्य) पृथक् करके (तदुत्तमे काये) उस उत्तम चिदानन्दमय कायमें—आत्म-स्वरूपमें (योजयेत्) लगावे। ऐसा करनेसे (प्रेम नश्यति) बाह्य शरीर और इन्द्रियविषयोंमें होने वाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

भावार्थ--जब तक इस जीवको अपने निजानन्दमय निराकुल शांत उपवनमें क्रीड़ा करनेका अवसर नहीं मिलता, तब तक ही यह जीव अस्थि, मांस और मल-मूत्रसे भरे हुए अपावन घृणित स्त्री आदिके शरीरमें और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है; किन्तु जब दर्शनमोहादिके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे इसके चित्तमें विवेकज्ञान जागृत हो जाता है तब स्व-पर स्वरूपका ज्ञायक होकर अपने ही प्रशान्त एवं निजानन्दमय सुधारसका पान करने लगता है और बाह्य इन्द्रियोंके पराधीन विषयोंको हेय समझकर उदासीन हो जाता है अथवा उनका सर्वथा त्यागकर निर्ग्रंथ साधु बन जाता है और घोर तपश्चरणा-दिके द्वारा आत्माकी वास्तविक शुद्धि करके सच्चे स्वाधीन एवं अविनाशी आत्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥४०॥

उस भ्रमात्मक प्रेमके नष्ट होनेपर क्या होता है उसे बतलाते हैं--

आत्मविभ्रजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

अन्वयार्थ--(आत्मविभ्रजं) शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होने वाला (दुःखं) दुख-कष्ट (आत्मज्ञानात्) शरीरादिसे भिन्नरूप आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे (प्रशाम्यति) शांत हो जाता है। अतएव जो पुरुष (तत्र) भेदविज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें (अयताः) प्रयत्न नहीं करते वे

(परमं) उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर (तपं) तपको (कृत्वापि) क (न निर्वान्ति) निर्वाणको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं

भावार्थ—कर्मबन्धनसे छूटनेके लिए आत्मज्ञानपूर्वक हुआ इच्छानिरोधरूप तपश्चरण ही कार्यकारी है। आत्म शून्य केवल शरीरको कष्ट देने वाले तपश्चरण तपश्चरण है—संसारपरिभ्रमणके ही कारण हैं। उनसे आत्मा कर्म कर्मोंके बन्धनसे छूट नहीं सकता और न स्वरूपमें ही स्थि सकता है। उसकी कष्ट-परम्परा बढ़ती ही चली जाती है ॥४

तपको करके बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्म क्या चाहता है, इसे दिखाते हैं—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांच्छति ।
उत्पन्नात्समतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममतिः) शरीरमें जिसको आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है ऐसा बहिरात्मा तप करके (शुभं शरीरं च) सुन्दर शरीर और (दिव्यान् विषयान्) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्गके विषय भोगोंको (अभिवांच्छति) चाहता है और (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानी अन्तरात्मा (ततः) शरीर और तत्सम्बन्धी विषयोंसे (च्युतिम्) छूटना चाहता है।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा स्वर्गादिककी प्राप्तिको ही परमपदकी प्राप्ति समझता है और इसीलिए स्वर्गादिकके मिलने की

लालसासे पंचाग्नि आदि शरीरको क्लेश देने वाले तप करता है। प्रत्युत इसके, आत्मज्ञानी अन्तरात्माकी ऐसी धारणा नहीं होती, वह सांसारिक विषय-भोगोंमें अपना स्वार्थ नहीं देखता—उन्हें दुखदाई और कष्टकर जानता है—और इसलिए इन देह-भोगोंसे ममत्व छोड़कर दुर्धर तपश्चरण करता हुआ शरीरादिकसे आत्माको भिन्न करनेका परम यत्न करता है—तपश्चरणके द्वारा इन्द्रिय और कषायों पर विजय पाकर अपने ध्येयकी सिद्धि कर लेता है ॥४२॥

अब यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा और अंतरात्मामें कर्म-बन्धनका कर्ता कौन है ?—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥४३॥

अन्वयार्थ—(परत्राहम्मतिः) शरीरादिक परपदार्थोंमें जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है ऐसा बहिरात्मा (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूपसे (च्युतः) भ्रष्ट हुआ (असंशयम्) निःसन्देह (बध्नाति) अपनेको कर्म बन्धनसे बद्ध करता है और (स्वस्मिन्नहम्मतिः) अपने आत्माके स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि रखने वाला (बुधः) अन्तरात्मा (परस्मात्) शरीरादिक परके सम्बन्धसे (च्युत्वा) च्युत होकर (मुच्यते) कर्म बन्धनसे छूट जाता है।

भावार्थ—बंधका कारण वास्तवमें रागादिकभाव है और वह तभी बनता है जब आत्मा अपने स्वरूपका ठीक अनुभव नहीं

करता—उसे भूल कर शरीरादिक पर-पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि धारण करता है। अन्तरात्मा चूंकि अपने आत्मस्वरूपका ज्ञाता होता है इससे वह अपने आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण नहीं करता——फलतः उसकी पर-पदार्थोंमें कोई आसक्ति नहीं होती। इसीसे वह कर्मोंके बंधनमें नहीं बंधता, किन्तु उससे छूट जाता है ॥४३॥

बहिरात्माकी जिस पदार्थमें आत्मबुद्धि हो गई है उसे वह कैसा मानता है और अन्तरात्माकी जिसमें आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है उसे वह कैसा अनुभव करता है, आगे इसी आशंकाका निरसन करते हुए कहते हैं——

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

अन्वायार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (इदं दृश्यमानं) इस दिखाई देने वाले शरीरको (त्रिलिंगं अवबुध्यते) स्त्री-पुरुष-नपुंसकके भेदसे यह आत्मतत्त्व त्रिलिङ्ग रूप है ऐसा मानता है; किन्तु (अवबुद्धः) आत्मज्ञानी अन्तरात्मा (इदं) यह आत्मतत्त्व है—त्रिलिङ्गरूप आत्मतत्त्व नहीं है और वह (निष्पन्नं) अनादि संसिद्ध है तथा (शब्दवर्जितम्) नामादिक विकल्पोंसे रहित है (इति) ऐसा समझता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवको शरीरसे भिन्न आत्माकी प्रतीति

नहीं होती, इसलिए वह स्त्री-पुरुष नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक शरीरको ही आत्मा मानता है। सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है और उसे शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति होती है, इसलिये वह अपने आत्माको तद्रूप ही अनुभव करता—त्रिलिङ्गरूप नहीं—और उसे अनादिसिद्ध तथा—निर्विकल्प समझता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई कहे कि जब अन्तरात्मा इस तरहसे आत्माका अनुभव करता है तो फिर मैं पुरुष हूँ, गोरा हूँ इत्यादि अभेद-रूपकी भ्रान्ति उसे कैसे हो जाती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा (आत्मनः तत्त्वं) अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपको (जानन् अपि) जानता हुआ भी (विविक्तं भावयन् अपि) और शरीरादिक अन्य पर-पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी (पूर्वविभ्रमसंस्कारात्) पहली बहिरात्मावस्थामें होने वाली भ्रान्तिके संस्कारवश (भूयोऽपि) पुनरपि (भ्रांतिं गच्छति) भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—यद्यपि अन्तरात्मा अपने आत्माके यथार्थस्वरूप-को जानता है और उसे शरीरादिक पर-द्रव्योंसे भिन्न अनुभव

भी करता है। फिर भी बहिरात्मावस्थाके चिरकालीन संस्कारोंके जागृत हो उठनेके कारण कभी कभी बाह्य पदार्थोंमें उसे एकत्वका भ्रम हो जाता है। इसीसे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिके ज्ञान-चेतनाके साथ कदाचित् कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतनाका भी सद्भाव माना गया है ॥ ४५ ॥

पुनः भ्रांतिको प्राप्त हुआ अन्तरात्मा उस भ्रांतिको फिर कैसे छोड़े ? इसे बतलाते हैं—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥४६॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा तब अपनी विचार परिणतिको इस रूप करे कि—(इदं दृश्यं) यह जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ समूह है वह सबका सब (अचेतन) चेतनारहित—जड़ है और जो (चेतनं) चैतन्यरूप आत्म समूह है वह (अदृश्यं) इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं पड़ता (ततः) इसलिए (क्व रुष्यामि) मैं किस पर तो क्रोध करूं और (क्व तुष्यामि) किस पर सन्तोष व्यक्त करूं ? (अतः अहं मध्यस्थः भवामि) ऐसी हालतमें मैं तो अब रागद्वेषके परित्यागरूप मध्यस्थभावको धारण करता हूँ।

भावार्थ—अन्तरात्माको अपने अनाद्यविद्यारूप भ्रान्त संस्कारों पर विजय प्राप्त करनेके लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि जिन पदार्थोंको मैं इन्द्रियोंके द्वारा देख

रहा हूँ वे सब तो जड़ हैं—चेतना रहित हैं उन पर रोष-तोष करना व्यर्थ है—वे उसे कुछ समझ ही नहीं सकते—और जो चैतन्य पदार्थ हैं वे मुझे दिखाई नहीं पड़ते, वे मेरे रोष-तोषका विषय ही नहीं हो सकते। अतः मुझे किसीसे राग-द्वेष न रख कर मध्यस्थ भावका ही अवलम्बन लेना चाहिये ॥४६॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माके त्याग ग्रहण विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(मूढः) मूर्ख बहिरात्मा (बहिः) बाह्य पदार्थोंका (त्यागादाने करोति) त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेषके उदयसे जिनको अनिष्ट समझता है उनको छोड़ देता है और रागके उदयसे जिन्हें इष्ट समझता है उनको ग्रहण कर लेता है तथा (आत्मवित्) आत्माके स्वरूपका ज्ञाता अन्तरात्मा (अध्यात्मं त्यागादाने करोति) अन्तरंग राग-द्वेषका त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावोंका ग्रहण करता है। परन्तु (निष्ठितात्मनः) शुद्ध स्वरूपमें स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा है उसके (अन्तः बहि) अंतरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थका (न त्यागः) न तो त्याग होता है और (न उपादानं) न ग्रहण होता है।

भावार्थ—बहिरात्मा जीव मोहोदयसे जिन बाह्य पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करता है उन्हींमें त्याग और ग्रहणकी क्रिया किया करता है। अन्तरात्मा वस्तुस्थितिका जानने वाला होकर वैसा नहीं करता—वह बाह्य पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अन्तरंगमें ही त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति किया करता है—रागादि कषाय भावोंको छोड़ता है और अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपको अपनाता है। परन्तु परमात्माके कृतकृत्य हो जानेके कारण, बाह्य हो या अंतरंग किसी भी विषयमें त्याग और ग्रहणकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे तो अपने शुद्ध स्वरूपमें सदा स्थिर रहते हैं ॥ ४७ ॥

अन्तरात्मा अन्तरंगका त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे, उसे बतलाते हैं—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(आत्मानं) आत्माको (मनसा) मनके साथ (युञ्जीत) संयोजित करे—चित्त और आत्माका अभेदरूपसे अध्यवसाय करे (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (वियोजयेत्) अलग करे—उन्हें आत्मा न समझे (तु) और (वाक्काययोजितम्) वचन-कायसे किये हुए (व्यवहारं) व्यवहारको (मनसा) मनसे (त्यजेत्) छोड़ देवे—उसमें चित्तको न लगावे।

भावार्थ—अन्तरंग रागादिकका त्याग और आत्मगुणोंका

ग्रहण करनेके लिये आत्माको चाहिये, कि वह आत्माको मानसज्ञानके साथ तन्मय करे और वचन तथा कायके सर्वकार्यों-को छोड़कर आत्मचिन्तनमें तल्लीन हो जावे। यदि प्रयोजनवश वचन और कायकी क्रिया करनी भी पड़े तो उसे उदासीनभावके साथ अरुचि-पूर्वक कड़वी दवाई पीनेवाले रोगीकी तरह अना-सक्तिसे करे ॥४८॥

यदि कोई कहे कि पुत्र स्त्री आदिके साथ वचनव्यवहार और शरीरव्यवहार करते हुए तो सुख प्रतीत होता है, फिर उस व्यवहारका त्याग करना कैसे युक्ति युक्त कहा जा सकता है? उसका समाधान करते हुए कहते हैं--

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥४९॥

अन्वयार्थ--(देहात्मदृष्टीनां) शरीरमें आत्मदृष्टि रखने वाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओंको (जगत्) यह स्त्री-पुत्र मित्रादिका समूहरूप संसार (विश्वास्यं) विश्वासके योग्य (च) और (रम्यं एव) रमणीय ही मालूम पड़ता है। परन्तु (स्वात्मनि एव आत्म-दृष्टीनां) अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि रखने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओंको (क्व विश्वासः) इन स्त्रीपुत्रादि परपदार्थोंमें कहां विश्वास हो सकता है (वा) और (क्व रतिः) कहाँ आसक्ति हो सकती है? कहीं भी नहीं।

भावार्थ—जब तक अपने परमानन्दमय चैतन्य स्वरूपका बोध न होकर इन संसारी जीवोंकी देहमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तब तक इन्हें यह स्त्री-पुत्रादिका समूह अपनेको आत्मस्वरूपसे वंचित रखनेवाला ठग समूह प्रतीत नहीं होता, किन्तु विश्वसनीय, रमणीय और उपकारी जान पड़ता है। परन्तु जिन्हें आत्माका परिज्ञान होकर अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उनकी दशा इससे विपरीत होती है—वे इन स्त्रीपुत्रादिको "आतमरूपके चोर चपल अति दुर्गति-पन्थ सहाई" समझने लगते हैं—किसीको भी अपना आत्मसमर्पण नहीं करते और न किसीमें आसक्त ही होते हैं ॥४९॥

यदि ऐसा है तो फिर अन्तरात्माकी भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (आत्मज्ञानात्परं) आत्मज्ञानसे भिन्न दूसरे (कार्यं) कार्यको (चिरं) अधिक समय तक (बुद्धौ) अपनी बुद्धिमें (न धारयेत्) धारण नहीं करे। यदि अर्थवशात्) स्व-परके उपकारादिरूप प्रयोजनके वश (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (किंचित् कुर्यात्) कुछ करना ही पड़े तो उसे (अतत्परः) अनासक्त होकर (कुर्यात्) करे ।

भावार्थ—आत्महितके इच्छुक अन्तरात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे अपने उपयोगको इधर उधर न भ्रमाकर अपना अधिक समय आत्मचिन्तनमें ही लगावें। यदि स्व-परके उपकारादिवश उन्हें वचन और कायसे कोई कार्य करना ही पड़े तो उसे अनासक्ति पूर्वक करें—उसमें अपने चित्तको अधिक न लगावें। ऐसा करनेसे वे अपने आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं हो सकेंगे और न उनकी शान्ति ही भंग हो सकेगी ॥५०॥

अनासक्त हुआ अन्तरात्मा आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण करे—शरीरादिकको नहीं, यह कैसे हो सकता है ? उसे बतलाते हैं—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको विचारना चाहिये कि (यत्) जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंके द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूँ। (तत्) वह (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है, किन्तु (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे रोककर स्वाधीन करता हुआ (यत्) जिस (उत्तमं) उत्कृष्ट अतीन्द्रिय (सानन्दं ज्योतिः) आनन्दमय ज्ञान प्रकाशको (अन्तः) अंतरंगमें (पश्यामि) देखता हूँ—अनुभव करता हूँ (तत् मे) वही मेरा वास्तविक स्वरूप (अस्तु) होना चाहिये।

भावार्थ—जब अन्तरात्मा भेदज्ञानकी दृष्टिसे इन्द्रियगोचर

बाह्य शरीरादि पदार्थोंको अपना रूप नहीं मानता किन्तु उस परमानन्दमय अतीन्द्रिय ज्ञानप्रकाशको ही अपना स्वरूप समझने लगता है जिसे वह इन्द्रिय व्यापारको रोककर अन्तरंगमें अवलोकन करता है, तब उसका मन सहज ही में शरीरादि बाह्य पदार्थोंसे हट जाता है, वह उनकी आराधना नहीं करता किंतु अपने उस स्वरूपका ही आराधन किया करता है उसीको अधिकांशमें अपनी बुद्धिका विषय बनाये रखता है ॥५१॥

यदि आनन्दमय ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है तो इन्द्रियों-को रोककर आत्मानुभव करने वालेको दुःख कैसे होता है, वह बतलाते हैं ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(आरब्धयोगस्य) जिसने आत्मभावनाका अभ्यास करना अभी शुरू किया है उस मनुष्यको—अपने पुराने संस्कारोंकी वजहसे (बहिः) बाह्य विषयोंमें (सुखं) सुख मालूम

भावार्थ––वास्तवमें आत्मानुभव तो सुखका ही कारण है और इन्द्रिय-विषयानुभव दुःखका; परन्तु जिन्हें अपने आत्माका यथेष्ट ज्ञान नहीं हुआ, जो अपने वास्तविक सुखस्वरूपको पहचानते ही नहीं और जिन्होंने आत्मभावनाका अभ्यास अभी प्रारंभ ही किया है उन्हें अपने इन्द्रिय-विषयोंको निरोधकर आत्मानुभवन करनेमें कुछ कष्ट जरूर होता है और पूर्व संस्कारोंके वश विषय-सुख रुचता भी है, जो बहुत कुछ स्वाभाविक ही है। आत्माकी भावना करते-करते जब किसीका अभ्यास परिपक्व हो जाता है और यह सुदृढ निश्चय हो जाता है कि सुख मेरे आत्माका ही स्वरूप है––वह आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें कहीं भी नहीं है, तब उसकी हालत पलट जाती है––वह अपने आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ही परमसुखका अनुभव करने लगता है और उसे बाह्य इन्द्रिय-विषय दुःखकारी तथा आत्मविस्मृतिके कारण जान पड़ते हैं, और इसलिए वह उनसे अलग अथवा अलिप्त रहना चाहता है ॥५२॥

अब वह आत्मस्वरूपकी भावना किस तरह करनी चाहिये उसे बतलाते हैं––

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

अन्वयार्थ––(तत् ब्रूयात्) उस आत्मस्वरूपका कथन करे–उसे दूसरोंको बतलावे (तत् परान् पृच्छेत्) उस आत्मस्वरूपको

भावार्थ—किसीका इकलौता प्रियपुत्र यदि खो जावे अथवा बिना कहे घर से निकल जावे तो वह मनुष्य जिस प्रकार उसकी ढूँढ खोज करता है, दूसरों पर उसके खो जानेकी बात प्रकट करता है, जानकारोंसे पूछता है कि कहीं उन्होंने उसे देखा है क्या? उसे पा जानेकी तीव्र इच्छा रखता है और बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी बाट देखता रहता है—एक मिनटके लिए भी उसका पुत्र उसके चित्तसे नहीं उतरता। उसी प्रकार आत्मस्वरूपके जिज्ञासुओं तथा उसकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको चाहिए कि वे बराबर आत्मस्वरूपकी खोजके लिए दूसरोंसे आत्मस्वरूपकी ही बात किया करें, विशेष ज्ञानियोंसे आत्माकी विशेषताओंको पूछा करें, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी निरन्तर भावना भाएं और एक-मात्र उसीमें अपनी लौ लगाये रक्खें। ऐसा होने पर उनकी अज्ञान-दशा दूर हो जायगी—बहिरात्मावस्था मिट जायगी और वे परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे ॥५३॥

यदि कोई कहे कि वाणी और शरीरसे भिन्न तो आत्माका

कोई अलग अस्तित्व है नहीं, तब आत्माकी चर्चा करे—भावना करे इत्यादि कहना युक्त नहीं, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषांनिबुध्यते ॥५४॥

अन्वयार्थ—(वाक् शरीरयोः भ्रान्तः) वचन और शरीरमें जिसकी भ्रान्ति हो रही है—जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा वहिरात्मा (वाचि शरीरे च) वचन और शरीरमें—(आत्मानं सन्धत्ते) आत्माका आरोपण करता है अर्थात् वचनको तथा शरीरको आत्मा मानता है (पुनः) किन्तु (अभ्रान्तः) वचन और शरीरसे आत्माकी भ्रांति न रखनेवाला ज्ञानी पुरुष (एषां तत्त्वं) इन शरीर और वचनके स्वरूपको (पृथक्) आत्मासे भिन्न (निवुध्यते) जानता है ।

भावार्थ—वास्तवमें शरीर और वचन पुद्गलकी रचना हैं, मूर्तिक हैं, जड हैं, आत्मस्वरूपसे विलक्षण हैं । इसमें आत्मबुद्धि रखना अज्ञान है । किन्तु वहिरात्मा चिर-मिथ्यात्वरूप कुसंस्कारोंके वश होकर इन्हें आत्मा समझता है, जोकि उसका भ्रम है । अन्तरात्माको जड और चैतन्यके स्वरूपका यथार्थ बोध होता है, इसीसे शरीरादिकमें उसकी आत्मपनेकी भ्रांति नहीं होती—वह शरीरको शरीर, वचनको वचन और आत्माको आत्मा समझता है, एकको दूसरेके साथ मिलाता नहीं ॥५४॥

भावार्थ - तत्त्वदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ये पांचों ही इन्द्रियोंके विषय क्षणभंगुर हैं, पराधीन हैं, विषम हैं, बंधके कारण हैं, दुःखस्वरूप हैं और बाधासहित हैं—कोई भी इनमें आत्माके लिये सुखकर नहीं, फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हींसे प्रीति करता है, उन्हींकी सम्प्राप्तिमें लगा रहता है और रात दिन उन्हींका राग आलापता है। यह सब अज्ञानभावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व-संस्कारका ही माहात्म्य है ॥५५॥

उस अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश बहिरात्माओंकी दशा किस प्रकारकी होती है, उसे बतलाते हैं—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

अन्वयार्थ--(मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (तमसि) मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके उदयवश (चिरं) अनादिकालसे (कुयोनिषु) नित्यनिगोदादिक कुयोनियोंमें (सुषुप्ताः) सो रहे हैं-- अतीव जडताको प्राप्त हो रहे हैं । यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियोंमें उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो (अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्) अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादिकमें 'ये मेरे हैं' और अनात्मभूत शरीरादिकोंमें 'मैं ही इन रूप हूँ' (इति जाग्रति) ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं ।

भावार्थ--नित्यनिगोदादिक निंद्य पर्यायोंमें यह जीव ज्ञानकी अत्यन्त हीनता-वश चिरकाल तक दुःख भोगता है । कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याय प्राप्त कर कुछ थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करता भी है तो अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश जो आत्मीय नहीं ऐसे स्त्री पुत्रादिकको ये मेरे हैं ऐसे आत्मीय मानकर और जो आत्मभूत नहीं ऐसे शरीरादिको 'यह मैं ही हूँ' ऐसे आत्मभूत मानकर अहंकार ममकारके चक्करमें फँस जाता है और उसके फलस्वरूप राग-द्वेषको बढ़ाता हुआ संसार-परिभ्रमण कर महादुःखित होता है ॥ ५६ ॥

अतः बहिरात्म-भावका परित्याग कर अपने तथा परके शरीरको इस रूपमें अवलोकन करे, ऐसा बतलाते हैं--

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे* व्यवस्थितः ॥५७॥

अन्वयार्थ--अन्तरात्माको चाहिये कि (आत्मतत्त्वे) अपने आत्मस्वरूपमें (व्यवस्थितः) स्थित होकर (आत्मनः देहं) अपने शरीरको (अनात्मचेतसा) 'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे (निरन्तरं पश्येत) सदा देखे-अनुभव करे और (अन्येषां) दूसरे प्राणियोंके शरीरको (अपरात्मधिया) 'यह शरीर परका आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे (पश्येत्) सदा अवलोकन करे ।

भावार्थ—अन्तरात्माको चाहिए कि पदार्थके स्वरूपको जैसाका तैसा जाने, अन्यमें अन्यका आरोपण न करे । अनादि कालसे आत्माकी शरीरके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है, उसका मोह दूर होना कठिन जानकर आचार्यमहोदय बार-बार अनेक युक्तियोंसे उसी बातको समझाकर बतलाते हैं—उनका अभिप्राय यही है कि संयुक्त होने पर भी विवक्षा-भेदसे, पुद्गलको पुद्गल और आत्माको आत्मा समझना चाहिये तथा कर्मकृत औपाधिक भावोंको कर्मकृत ही मानना चाहिये । आत्माका किसी शरीररूप विभाव पर्यायमें स्थिर होना उसकी कर्मोपाधि-जनित अवस्था है—स्वभाव नहीं । शरीरको आत्मा मानना ग्रहको ग्रहवासी अथवा वस्त्रको वस्त्रधारी माननेके समान भ्रम है ॥५७॥

---

* 'आत्मतत्त्वव्यवस्थित.' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

इस प्रकार आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव करके ज्ञातात्म-पुरुष (स्वानुभवमग्न अन्तरात्मा) मूढात्माओं (जड़बुद्धियों) को आत्म-तत्त्व क्यों नहीं बतलाते, जिससे वे भी आत्मस्वरूपके ज्ञायक बनें ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

अन्वयार्थ—स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि (यथा) जैसे (मूढ़ात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (अज्ञापितं) विना बताए हुए (मां) मेरे आत्मस्वरूपको (न जानन्ति) नहीं जानते हैं। (तथा) वैसे ही (ज्ञापितं) बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं। (ततः) इसलिये (तेषां) उन मूढ पुरुषोंको (मे ज्ञापन-श्रमः) मेरा बतलानेका परिश्रम (वृथा) व्यर्थ है, निष्फल है।

भावार्थ—जो ज्ञानी जीव अन्तर्मुखी होते हैं वे बाह्य विषयों-में अपने चित्तको अधिक नहीं भ्रमाते—उन्हें तो अपने आत्माके चिन्तन और मननमें लगे रहना ही अधिक रुचिकर होता है। मूढ़ात्माओंके साथ आत्म-विषयमें मग़ज़-पच्ची करना उन्हें नहीं भाता। वे इस प्रकार जड़ात्माओंके साथ टक्कर मारनेके अपने परिश्रमको व्यर्थ समझते हैं और समझते हैं कि इस तरह मूढ़ा-त्माओंके साथ उलझे रहकर कितने ही ज्ञानीजन अपने आत्महित साधनसे वंचित रह जाते हैं। आत्महित साधन सर्वोपरि मुख्य है, उसे इधर-उधरके चक्करमें पड़कर भुलाना नहीं चाहिये ॥५८॥

और भी वह अन्तरात्मा विचारता है—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूपको अथवा देहादिकको (बोधयितुं) समझाने-बुझानेकी (इच्छामि) मैं इच्छा करता हूँ—चेष्टा करता हूँ (तत्) वह (अहं) मैं नहीं हूँ—आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है। (पुनः) और (यत्) जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (अहं) मैं हूँ (तदपि) वह भी (अन्यस्य) दूसरे जीवोंके (ग्राह्यं न) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है—वह तो स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव किया जाता है (तत्) इसलिए (अन्यस्य) दूसरे जीवोंको (किं बोधये) मैं क्या समझाऊँ ?

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा अपने उपदेशकी व्यर्थताको सोचता हुआ पुनः विचारता है कि—जिस आत्मस्वरूपको शब्दों द्वारा मैं दूसरोंको बतलाना चाहता हूँ वह तो सविकल्प है—आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं है; और जो आत्माका वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता-स्वसंवेदनके द्वारा ही अनुभव एवं ग्रहण किये जानेके योग्य है; तब दूसरोंको मेरे उपदेश देनेसे क्या नतीजा ? ॥५९॥

आत्मतत्त्वके जैसे-तैसे समझाये जानेपर भी बहिरात्माका अनुराग होना संभव नहीं; क्योंकि मोहके उदयसे बाह्य पदार्थोंमें

ही उसका अनुराग होता है, इसी विचारको आगे प्रस्तुत करते हैं—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

अन्वयार्थ—(अन्तरे पिहितज्योतिः) अन्तरङ्गमें जिसकी ज्ञानज्योति मोहसे आच्छादित हो रही है—जिसे स्वरूपका विवेक नहीं ऐसा (मूढात्मा) बहिरात्मा (बहिः) बाह्य शरीरादि पर-पदार्थोंमें ही (तुष्यति) संतुष्ट रहता है—आनन्द मानता है; किन्तु (प्रबुद्धात्मा) मिथ्यात्वके उदयाभावसे प्रबोधको प्राप्त होगया है आत्मा जिसका ऐसा स्वरूप विवेकी अन्तरात्मा (बहिर्व्यावृत्त-कौतुकः) बाह्यशरीरादि पदार्थोंमें अनुरागरहित हुआ (अन्तः) अपने अन्तरंग आत्मस्वरूपमें ही (तुष्यति) संतोष धारण करता है—मग्न रहता है ।

भावार्थ—मूढात्मा और प्रबुद्धात्माकी प्रवृत्तिमें बड़ा अन्तर होता है। मूढात्मा मोहोदयके वश महा अविवेकी हुआ समझाने पर भी नहीं समझता और बाह्य विषयोंमें ही संतोष मानता हुआ फंसा रहता है। प्रत्युत इसके, प्रबुद्धात्माको अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहनेमें ही आनन्द आता है और इसीसे वह बाह्य विषयोंसे अपने इन्द्रिय-व्यापारको हटाकर प्रायः उदासीन रहता है ॥६०॥

किसी कारण अन्तरात्मा शरीरादिको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन होता है, उसे बतलाते हैं—

न जानन्ति शरीराणि सुख-दुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा विचारता है—(शरीराणि) ये शरीर (सुख-दुःखानि न जानन्ति) जड़ होनेसे सुखों तथा दुःखोंको नहीं जानते हैं (तथापि) तो भी [ये] जो जीव (अत्रैव) इन शरीरोंमें ही (निग्रहानुग्रहधियं) उपवासादि द्वारा दंडरूप निग्रहकी और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रहकी बुद्धि (कुर्वते) धारण करते हैं [ते] वे जीव (अबुद्धयः) मूढ़बुद्धि हैं—बहिरात्मा हैं ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जब ये शरीर जड़ है—इन्हें सुख-दुःखका कोई अनुभव नहीं होता और न ये किसीके निग्रह या अनुग्रहको ही कुछ समझते हैं तब इनमें निग्रहानुग्रहकी बुद्धि धारण करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ? उसका यह विचार ही उसे शरीरोंको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन बनाये रखता है—वह उनकी अनावश्यक चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान ही नहीं देता ॥६१॥

शरीरादिकमें जब तक आत्मबुद्धिसे प्रवृत्ति रहती है तभी तक संसार है और जब वह प्रवृत्ति मिट जाती है तब मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक (कायवाक्चेतसां त्रयम्) शरीर, वचन और मन इन तीनोंको (स्वबुद्धया) आत्मबुद्धिसे (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (तावत्) तब तक (संसारः) संसार है (तु) और जब (एतेषां) इन मन, वचन, कायका (भेदाभ्यासे) आत्मासे भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है तब (निर्वृतिः) मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—जब तक इस जीवकी मन-वचन-कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें आत्माके ही अंग अथवा अंश समझा जाता है—तबतक यह जीव संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है। किन्तु जब उसकी यह भ्रमबुद्धि मिट जाती है और वह शरीर तथा वचनादिको आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने उस अभ्यासमें दृढ़ हो जाता है तभी वह संसार बंधनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है ॥६२॥

शरीरादिक आत्मासे भिन्न हैं—उनमें जीव नहीं—ऐसा भेद-ज्ञानका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर अन्तरात्मा शरीरको दृढतादिक बनने पर आत्माकी दृढतादिक नहीं मानता, इस बातको आगेके चार श्लोकोंमें बतलाते हैं।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

अन्वयार्थ (यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे घने) गा[illegible]
पहन लेनेपर (बुधः) बुद्धिमान् पुरुष (आत्मानं) अपनेको
शरीरको (घनं) गाढ़ा अथवा दृढ़ (न मन्यते) नहीं म[illegible]
(तथा) उसी प्रकार (स्वदेहेऽपि घने) अपने शरीरके [illegible]
अथवा पुष्ट होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मान[illegible]
जीवात्माको (घनं न मन्यते) पुष्ट नहीं मानता है ॥६३

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) कपड़ेके नष्ट हो जानेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (बुधः) अन्तरात्मा (स्वदेहे अपि नष्टे) अपने शरीरके नष्ट हो जानेपर (आत्मानं) अपने जीवात्माको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है ॥६५॥

***रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।**
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे रक्ते) पहना हुआ वस्त्र लाल होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि रक्ते)अपने शरीरके भी लाल होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है ॥६६॥

भावार्थ—शरीरके साथ वस्त्रकी जसी स्थिति है वैसी ही आत्माके साथ शरीर की है। पहनेजानेवाले वस्त्रके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि किसी रंगका होनेके

---

* रत्ते वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहे रत्ति णाणि तहें अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ २–७८ ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

अनुभवरूप भोगसे रहित (आभाति) मालूम होने लगता है (सः) वह पुरुष (अक्रियाभोगं शमं याति) परमवीतरागतामय उस शान्ति-सुखका अनुभव करता है जिसमें मन-वचन-कायका व्यापार नहीं और न इन्द्रिय-द्वारोंसे विषयका भोग ही किया जाता है (इतरः न) उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति-सुखको प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ--जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते अपनेमें स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार भी लकड़ी पत्थर आदिकी तरह स्थिर तथा चेष्टा-रहित-सा जान पड़ता है--उसकी क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं होता—तभी वह वीतरागभावको प्राप्त होता हुआ शान्ति सुखका अधिकारी नहीं है।

अब बहिरात्मा भी इसी प्रकार शरीरादिसे भिन्न आत्माको क्या जानता नहीं ? इसीको बतलाते हैं--

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

अन्वयार्थ—(शरीरकंचुकेन) कार्माणशरीररूपी कांचलीसे (संवृतज्ञानविग्रहः आत्मा) ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका ऐसा बहिरात्मा (आत्मानं) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (न बुध्यते)

यहांपर इतना और भी जान लेना चाहिये कि कांचलीका दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है। कांचली जिस प्रकार सर्प-शरीरके ऊपरी भाग पर रहती है उसी प्रकारका सम्बन्ध कार्माण-शरीरका आत्माके साथ नहीं है। संसारी आत्मा और कार्माण-शरीरका ऐसा सम्बन्ध है जैसे पानीमें नमक मिल जाता है अथवा कत्था और चूना मिला देनेसे जैसे उनकी लालपरिणति हो जाती है। कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होता है, इसी कारण दोनोंके गुण विकृत रहते हैं तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे बहिरात्मा जीव आत्मस्वरूपको समझाये जाने पर भी नहीं समझता है—आत्माके वास्तविक चिदानंदस्वरूपका अनुभव उसे नहीं होता। इसी मिथ्यात्व एवं अज्ञानभावके कारण

यह जीव अनादिकालसे संसारचक्रमें भ्रमण करता आरहा है और उस वक्त तक बराबर भ्रमण करता रहेगा जबतक उसका यह अज्ञानभाव नहीं मिटेगा ॥६८॥

यदि बहिरात्मा जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहिचानते हैं, तो फिर वे किसको आत्मा जानते हैं ? इसी बातको आगे बतलाते हैं--

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

अन्वयार्थ--(अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे) ऐसे परमाणुओंके समूहरूप शरीरमें जो प्रवेश करते रहते हैं और बाहर निकलते रहते हैं (समाकृतौ) शरीरकी आकृतिके समानरूपमें बने रहने पर (स्थितिभ्रांत्या) कालांतर--स्थायित्व तथा एकक्षेत्रमें स्थिति होनेके कारण शरीर और आत्माको एक समझनेके रूप जो भ्रांति होती है उससे (तम्) उस शरीरको ही (आत्मानं) आत्मा (प्रपद्यते) समझ लेते हैं।

भावार्थ—यद्यपि शरीर ऐसे पुद्गल परमाणुओंका बना हुआ है जो सदा स्थिर नहीं रहते--समय-समयपर अगणित परमाणु शरीरसे बाहर निकल जाते हैं और नये-नये परमाणु शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं, फिर भी चूँकि आत्मा और शरीरका एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है और परमाणुओंके इस निकल जाने

तथा प्रदेश परिमाण आदि आकृतिमें कोई विशेष भेद नहीं पड़ता—वह प्रायः ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है—इससे मूढ़ात्माओंको यह भ्रम हो जाता है कि यह शरीर ही मैं हूं—मेरा आत्मा है। इसी भ्रमके कारण मूढ़ बहिरात्मा प्राणी शरीरको ही अपना रूप (आत्मस्वरूप) समझने लगते हैं। आभ्यन्तर आत्म-तत्त्व तक उनकी दृष्टि ही नहीं पहुंचती ॥६९॥

ऐसी हालतमें आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेकी इच्छा रखने वालोंको चाहिये कि वह शरीरसे भिन्न आत्माकी भावना करें, ऐसा दर्शाते हैं—

*गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (गौरः) गोरा हूं (स्थूलः) मोटा हूं (वा कृशः) अथवा दुबला हूं (इति) इस प्रकार (अंगेन) शरीरके साथ (आत्मानं) अपनेको (अविशेषयन्) एकरूप न करते हुए (नित्यं) सदा ही (आत्मानं) अपने आत्माको (केवलज्ञप्तिविग्रहम्) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी (धारयेत्) अपने चित्तमें धारण करे ॥७०॥

भावार्थ—गोरापन, कालापन, मोटापन, दुबलापन आदि

---

* हउं गोरउ हउं सामलउ हउं जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु-अंगउं थूलु हउं एहउं मुढउ मण्णु ॥ ८० ॥
—परमात्म प्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

अवस्थाएँ पुद्गलकी हैं––पुद्गलसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है। आत्मा इन शरीरके धर्मोंसे भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप है। अतः आत्मपरिज्ञानके इच्छुकों को चाहिये कि वे अपने आत्माको इन पुद्गलपर्यायोंके साथ एकमेक (अभेदरूप) न करे, बल्कि इन्हें अपना रूप न मानते हुए अपनेको रूपादिरहित केवलज्ञानस्वरूप समझें। इसीका नाम भेदविज्ञान है ॥७०॥

जो इस प्रकार आत्माकी एकाग्रचित्तसे भावना करता है उसीको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं, ऐसा दिखाते हैं–

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥७१॥

अन्वयार्थ––(यस्य) जिस पुरुषके (चित्ते) चित्तमें (अचला) आत्मस्वरूपकी निश्चल (धृतिः) धारणा है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः) नियमसे मुक्ति होती है। (यस्य) जिस पुरुषकी (अचलाधृतिः नास्ति) आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः न) अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है॥७१॥

भावार्थ—जब यह जीव आत्मस्वरूपमें डाँवाडोल न रहकर स्थिर हो जाता है तभी मुक्तिकी प्राप्ति कर सकता है। आत्मस्वरूपमें स्थिरताके बिना मुक्तिकी प्राप्ति होना असंभव है॥७१॥

चित्तकी निश्चलता तभी हो सकेगी जब लोक-संसर्गका

तब क्या मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर जंगलमें निवास करना चाहिये ? इस शंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं--

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

अन्वयार्थ--(अनात्मदर्शिनां) जिन्हें आत्माकी उपलब्धि-उसका दर्शन अथवा अनुभव नहीं हुआ ऐसे लोगोंके लिये (ग्रामः अरण्यम्) यह गाँव है, यह जंगल है (इति द्वेधा निवासः) इस प्रकार दो तरहके निवासकी कल्पना होती है (तु) किन्तु (दृष्टात्मनां) जिन्हें आत्मस्वरूपका अनुभव हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके लिये (विविक्तः) रागादि रहित विशुद्ध एवं (निश्चलः) चित्तकी व्याकुलता रहित स्वरूपमें स्थिर (आत्मा एव) आत्माही (निवासः) रहनेका स्थान है ।

भावार्थ--जो लोग आत्मानुभवसे शून्य होते हैं उन्हींका निवास-स्थान गाँव तथा जंगलमें होता है--कोई गांवको अपनाता है तो दूसरा जगलसे प्रेम रखता है । गांव और जंगल दोनों ही बाह्य एवं परवस्तुएँ हैं । मात्र जंगलका निवास किसीको आत्मदर्शी नहीं बना देता । प्रत्युत इसके, जो आत्मदर्शी होते हैं उनका निवासस्थान वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है जो वीत-रागताके कारण चित्तकी व्याकुलताको अपने पास फटकने नहीं देता और इसलिये उन्हें न तो ग्रामवाससे प्रेम होता है और न

वनके निवासमें ही—वे दोनोंको ही अपने आत्मस्वरूपसे भिन्न समझते हैं और इसलिए किसीमें भी आसक्तिका रखना अथवा उसे अपना (आत्माका) निवासस्थान मानना उन्हें इष्ट नहीं होता। वे तो शुद्धात्मस्वरूपको ही अपनी निवासभूमि बनाते हैं और उसीमें सदा रमे रहते हैं। ग्रामका निवास उन्हें आत्मदर्शी-से अनात्मदर्शी नहीं बना सकता ॥७३॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी होनेका फल क्या है, उसे दिखाते हैं—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीरमें (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—शरीरको ही आत्मा मानना है—वही (देहान्तरगतेः) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्तिका (बीज) कारण है और (आत्मनि एव) अपनी आत्मामें ही (आत्मभावना) आत्मकी जो भावना है—आत्माको ही आत्मा मानना है—वह (विदेहनिष्पत्तेः) शरीरके सर्वथा त्याग रूप मुक्तिका (बीजं) कारण है।

भावार्थ—जो जीव कर्मोदयजन्य इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझता है और इसीसे देह-भोगोंमें आसक्त रहता है, वह चिरकाल तक नये-नये शरीर धारण करता हुआ संसारपरिभ्रमण

करता है और इस तरह अनन्त कष्टोंको भोगता है। प्रत्युत इसके, आत्माके निजस्वरूपमें ही जिसकी आत्मत्वकी भावना है वह जीव शीघ्र ही कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और सदाके लिए अपने निराबाध सुखस्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ७४ ॥

यदि ऐसा है, तब मुक्तिको प्राप्त करानेके लिए हेतुभूत कोई दूसरा गुरु तो होगा ? ऐसी आशंका करने वालेके प्रति कहते हैं—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च* ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्माको (जन्म नयति) देहादिकमें दृढ़ात्मभावनाके कारण जन्म-मरणरूप संसारमें भ्रमण कराता है (च) और (निर्वाणमेव नयति) आत्मामें ही आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश मोक्ष प्राप्त कराता है (तस्मात्) इसलिये (परमार्थतः) निश्चयसे (आत्मनः गुरुः) आत्माका गुरु (आत्मा एव) आत्मा ही है (अन्यः न अस्ति) दूसरा कोई गुरु नहीं है।

भावार्थ——हितोपदेशक सद्‌गुरुओंका हितकर उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव अपने आत्माको नहीं पहचानता और

* 'त्वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके ।

वनके निवाससे ही—वे दोनोंको ही अपने आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत समझते हैं और इसलिए किसीमें भी आसक्तिका रखना अथवा उसे अपना (आत्माका) निवासस्थान मानना उन्हें इष्ट नहीं होता। वे तो शुद्धात्मस्वरूपको ही अपनी निवासभूमि बनाते हैं और उसीमें सदा रमे रहते हैं। ग्रामका निवास उन्हें आत्मदर्शी-से अनात्मदर्शी नहीं बना सकता ॥७३॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी होनेका फल क्या है, उसे दिखाते हैं—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीरमें (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—शरीरको ही आत्मा मानना है—वही (देहान्तरगतेः) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्तिका (बीजं) कारण है और (आत्मनि एव) अपनी आत्मामें ही (आत्मभावना) आत्मकी जो भावना है—आत्माको ही आत्मा मानना है—वह (विदेहनिष्पत्तेः)शरीरके सर्वथा त्याग रूप मुक्तिका (बीजं) कारण है।

भावार्थ—जो जीव कर्मोदयजन्य इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझता है और इसीसे देह-भोगोंमें आसक्त रहता है, वह चिरकाल तक नये-नये शरीर धारण करता हुआ संसारपरिभ्रमण

करता है और इस तरह अनन्त कष्टोंको भोगता है। प्रत्युत इसके, आत्माके निजस्वरूपमें ही जिसकी आत्मत्वकी भावना है वह जीव शीघ्र ही कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और सदाके लिए अपने निराबाध सुखस्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ७४ ॥

यदि ऐसा है, तब मुक्तिको प्राप्त करानेके लिए हेतुभूत कोई दूसरा गुरु तो होगा ? ऐसी आशंका करने वालेके प्रति कहते हैं—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च॥ ।

गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्माको (जन्म नयति) देहादिकमें दृढ़ात्मभावनाके कारण जन्म-मरणरूप संसारमें भ्रमण कराता है (च) और (निर्वाणमेव नयति) आत्मामें ही आत्मबुद्धिके प्रकर्षवश मोक्ष प्राप्त कराता है (तस्मात्) इसलिये (परमार्थतः) निश्चयसे (आत्मनः गुरुः) आत्माका गुरु (आत्मा एव) आत्मा ही है (अन्यः न अस्ति) दूसरा कोई गुरु नहीं है।

भावार्थ—हितोपदेशक सद्गुरुओंका हितकर उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव अपने आत्माको नहीं पहचानता और

॥ 'वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके।

अंतरंग रागादिक शत्रुओं एवं कषाय-परिणति पर विजय प्राप्त कर स्वयं अपने उद्धारका यत्न नहीं करता तब तक बराबर संसाररूपी कीचड़में ही फँसा रहता है और जन्ममरणादिके असह्य कष्टोंको भोगता रहता है। परन्तु जब इस जीवकी भव-स्थिति सन्निकट आती है, दर्शनमोहका उपशम-क्षयोपशम होता है, उस समय सद्गुरुओंके उपदेशके बिना भी यह जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचान लेता है और रागद्वेषादिरूप कषायभाव एवं विभावपरिणतिको त्याग करके स्वयं कर्मबन्धनसे छूट जाता है। इसलिये परमार्थिकदृष्टिसे तो खुद आत्मा ही अपना गुरु है—दूसरा नहीं ॥७५॥

शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा मरणके संनिकट आनेपर क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धिः) शरीरादिकमें जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है ऐसा बहिरात्मा (आत्मनः नाशम्) शरीरके छूटनेरूप अपने मरण (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्रादि-सम्बन्धियोंके वियोगको (उत्पश्यन्) देखता हुआ (मरणात्) मरनेसे (भृशम्) अत्यन्त (बिभेति) डरता है।

भावार्थ—फटे-पुराने कपड़ेको उतार कर नवीन वस्त्र पहनने

में जिस प्रकार कोई दुःख नहीं होता, उसी प्रकार एक शरीरको छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करनेमें कोई कष्ट न होना चाहिए। परन्तु यह अज्ञानी जीव मोहके तीव्रउदयवश जब शरीरको ही आत्मा समझ लेता है और शरीर सम्बन्धी स्त्री-पुत्र-मित्रादि परपदार्थोंको आत्मीय मान लेता है तब मरणके समुपस्थित होने पर उसे अपना (अपने आत्मा का) नाश और आत्मीय जनोंका वियोग दीख पड़ता है और इसलिए वह मरने से बहुत ही डरता है ॥७६॥

जिसकी आत्मस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा मरणके समुपस्थित होनेपर क्या करता है उसे बतलाते हैं--

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥७७॥

अन्वयार्थ--(आत्मनि: एव आत्मधीः) आत्मस्वरूपमें ही जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा (शरीरगतिं) शरीरके विनाशको अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणतिको (आत्मनः अन्यां) अपने आत्मासे भिन्न (मन्यते) मानता है--शरीरके उत्पाद विनाशमें अपने आत्माका उत्पाद-विनाश नहीं मानता--और इस तरह मरणके अवसरपर (वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव) एक वस्त्रको छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह (निर्भयं मन्यते) निर्भय रहता है ॥७७॥

भावार्थ--अन्तरात्मा स्व-परके भेदका यथार्थ ज्ञाता होता है, अतएव पुद्गलके विविध परिणामोंसे खेद खिन्न नहीं होता। शरीरादि पुद्गलमय द्रव्योंको वह अपने नहीं समझता। इसीलिये शरीररूपी झोंपड़ीका विनाश समुपस्थित होनेपर भी उसे आकुलता नहीं सताती। वह तो निर्भय हुआ अपने आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है और शरीरके त्याग ग्रहणको वस्त्रके त्याग ग्रहणके समान समझता है ॥७७॥

इस प्रकार वही आत्मबोधको प्राप्त होता है जो व्यवहारमें अनादरवान है--अनासक्त है--और जो व्यवहारमें आदरवान् है--आसक्त है--वह आत्मबोधको प्राप्त नहीं होता।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ--(यः) जो कोई (व्यवहारे) प्रवृत्ति-निवृत्यादि-रूप लोकव्यवहारमें (सुषुप्तः) सोता है- अनासक्त एवं अप्रयत्नशील रहता है (सः) वह (आत्मगोचरे) आत्माके विषयमें (जागर्ति) जागता है --आत्मानुभवमें तत्पर रहता है (च) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) इस लोक व्यवहारमें (जागर्ति) जागता है--उसकी साधनामें तत्पर रहता है वह (आत्मगोचरे) आत्मा-

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥ ३१ ॥
मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

के विषयमें (सुषुप्तः) होता है--आत्मानुभवका कोई प्रयत्न नहीं करता है।

भावार्थ--जिस प्रकार एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार आत्मामें एक साथ दो विरुद्ध परिणतियां भी नहीं रह सकतीं, आत्मासक्ति और लोकव्यवहारासक्ति ये दो विरुद्ध परिणतियां हैं। जो आत्मानुभवनमें आसक्त हुआ आत्माके आराधनमें तत्पर होता है वह लौकिक व्यवहारोंसे प्रायः उदासीन रहता है-उनमें अपने आत्माको नहीं फँसाता। और जो लोकव्यवहारोंमें अपने आत्माको फँसाए रखता है—उन्हींमें सदा दत्तावधान रहता है--वह आत्माके विषयमें बिल्कुल बेखबर रहता है--उसे अपने शुद्धस्वरूपका कोई अनुभव नहीं हो पाता॥७८॥

जो अपने आत्मस्वरूपके विषयमें जागता है—उसकी ठीक सावधानी रखता है—वह मुक्तिको प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं--

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादाभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(अन्तरे) अन्तरंगमें (आत्मानम्) आत्माके वास्तविक स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर और (बहिः) बाह्यमें (देहादिकं) शरीरादिक परभावोंको (दृष्ट्वा) देखकर (तयोः)

आत्मा और शरीरादिक दोनोंके (अन्तरविज्ञानात्) भेदविज्ञानसे तथा (अभ्यासात्) अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञानमें दृढ़ता प्राप्त करनेसे (अच्युतो भवेत्) यह जीव मुक्त हो जाता है।

भावार्थ--जब इस जीवको आत्मस्वरूपका दर्शन होजाता है और यह शरीरादिकको अपने आत्मासे भिन्न परपदार्थ समझने लगता है तब इसकी परिणति पलट जाती है--बाह्य विषयोंसे हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है--और तब यह अपने उपयोगको इधर उधर इन्द्रिय विषयोंमें न भ्रमाकर आत्माराधनकी ओर एकाग्र करता है, आत्मसाधनके अपने अभ्यासको बढ़ाता है और उस अभ्यासमें दृढ़ता सम्पादन करके अपने सम्यग्दर्शनादि गुणोंका पूर्ण विकास कर लेता है। फिर उसका आत्मस्वरूपसे पतन नहीं होता--वह उसमें बराबर स्थिर रहता है। इसीका नाम अच्युत (मोक्ष) पदकी प्राप्ति है ॥७९॥

शरीर और आत्माका जिसे भेदविज्ञान होगया है ऐसे अन्तरात्माको यह जगत योगाभ्यासकी प्रारम्भावस्थामें कैसा दिखाई देता है और योगाभ्यासकी निष्पन्नावस्थामें कैसा प्रतीत होता है उसे बतलाते हैं--

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियःपश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

अन्वयार्थ--(दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिसे आत्मदर्शन हो गया है ऐसे योगी जीवको (पूर्वं) योगाभ्यासकी प्राथमिक अवस्थामें

(जगत्) यह अब प्राणिसमूह (उन्मत्तवत्) उन्मत्त-सरीखा (विभाति) मालूम होता है किन्तु (परचात्) बादको जब योगक निष्पन्नावस्था हो जाती है तब (स्वभ्यस्तात्मधियः) आत्मस्वरूपके अभ्यासमें परिपक्वबुद्धि हुए अन्तरात्माको (काष्ठपाषाणरूपवत्) यह जगत् काठ और पत्थरके समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

भावार्थ—अपने शरीरसे भिन्नरूप जब आत्माका अनुभव होता है तब योगकी प्रारम्भिक दशा होती है, उस समय योगी अन्तरात्माको यह जगत् स्वरूपचिन्तनसे विकल होनेके कारण शुभाऽशुभ चेष्टाओंसे युक्त और नाना प्रकारके बाह्य विकल्पोंसे घिरा हुआ उन्मत्त—जैसा मालूम पड़ता है । बादको योगमें निष्णात होनेपर जब आत्मानुभवका अभ्यास खूब दृढ हो जाता है—बाह्यविषयोंमें उसकी परिणति नहीं जाती—तब, परम उदासीन भावका अवलम्बन न लेते हुए भी, जगद्विषयक चिन्ताका अभाव हो जानेके कारण उसे यह जगत--काष्ठ--पाषाण--जैसा निश्चेष्ट जान पड़ता है। यह सब भेदविज्ञान और अभ्यास--अनभ्यासका माहात्म्य है ।। ८० ।।

यदि कोई शंका करे कि 'स्वभ्यस्तात्मधियः' यह पद जो पूर्वश्लोकमें दिया है वह व्यर्थ है—आत्मतत्त्वके अभ्यासमें परिपक्व होनेकी कोई ज़रूरत नहीं—क्योंकि शरीर और आत्माके स्वरूपके जाननेवालोंसे आत्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा सुननेसे

अथवा स्वयं दूसरोंको उस स्वरूपका प्रतिपादन करनेसे मुक्ति हो जायगी, इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अन्वयार्थ—आत्माका स्वरूप (अन्यतः) उपाध्याय आदि गुरुओंके मुखसे (कामं) खूब इच्छानुसार (शृण्वन्नपि) सुनने पर तथा (कलेवरात्) अपने मुखसे (वदन्नपि) दूसरोंको बतलाते हुए भी (यावत्) जब तक (आत्मानं) आत्मस्वरूपकी (भिन्नं)शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न (न भावयेत्) भावना नहीं की जाती। (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न) यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

भावार्थ—जीव और पुद्गलके स्वरूपको सुनकर तोतेकी तरहसे रट लेने और दूसरोंको सुना देने मात्रसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्तिकी प्राप्तिके लिए आत्माको शरीरादिसे भिन्न अनुभव करनेकी खास ज़रूरत है। जब तक भावनाके बल पर यह अभ्यास दृढ़ नहीं होता तब तक कुछ भी आत्मकल्याण नहीं बन सकता ॥८१॥

भेदविज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्तरात्माको क्या करना चाहिये, उसे बतलाते हैं—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिए कि वह (देहात्) शरीरसे (आत्मानं) आत्माको (व्यावृत्य) भिन्न अनुभव करके (आत्मनि) आत्मामें ही (तथैव) उस प्रकारसे (भावयेत्) भावना करे (यथा पुनः) जिस प्रकार से फिर (स्वप्नेऽपि) स्वप्नमें भी (देहे) शरीरकी उपलब्धि होनेपर उसमें (आत्मानं) आत्माको (न योजयेत्) योजित न करे। अर्थात् शरीरको आत्मा न समझ बैठे।

भावार्थ—मोहकी प्रबलता-जन्य चिरकालका अज्ञान संस्कार जब हृदय से निकल जाता है तब स्वप्नमें भी इस जड़ शरीरमें आत्माकी बुद्धि नहीं होती। अतः उक्त संस्कारको दूर करनेके लिये भेदविज्ञानकी निरंतर भावना करनी चाहिये॥ ८२॥

जिस प्रकार परम उदासीन अवस्थामें स्व-परका विकल्प त्यागने योग्य होता है उसी प्रकार व्रतोंके पालनेका विकल्प भी त्याज्य है। क्योंकि—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥८३॥

अन्वयार्थ - (अव्रतैः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पांच अव्रतोंके अनुष्ठानसे (अपुण्यम्) पापका बंध होता है और (व्रतैः) अहिंसादिक पांच व्रतोंके पालनेसे (पुण्यं) पुण्यका बंध होता है (तयोः) पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका (व्ययः) जो विनाश है और वही (मोक्षः) मोक्ष है (ततः) इसलिये (मोक्षार्थी)

मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिये कि(अव्रतानि इव) अव्रतोंकी तरह (व्रतानि अपि) व्रतोंको भी (त्यजेत्) छोड़ देवे।

भावार्थ--मोक्षार्थी पुरुषको मोक्षप्राप्तिके मार्गमें जिस प्रकार पंच अव्रत विघ्नस्वरूप हैं उसी प्रकार पाँच व्रत भी बाधक हैं, क्योंकि लोहेकी बेड़ी जिस प्रकार बन्धकारक है उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बंधकारक है। दोनों प्रकारकी बेड़ियोंका अभाव होने पर जिस प्रकार लोकव्यवहारमें मुक्ति (आजादी) समझी जाती है उसी प्रकार परमार्थमें भी व्रत और अव्रत दोनोंके अभावसे मुक्ति मानी गई है। अतः मुमुक्षुको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये ॥८३॥

अब उनके छोड़नेका क्रम बतलाते हैं--

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

अन्वयार्थ--(अव्रतानि) हिंसादिक पंच अव्रतोंको (परित्यज्य) छोड़ करके (व्रतेषु) अहिंसादिक व्रतोंमें (परिनिष्ठितः) निष्ठावान् रहे अर्थात् उनका दृढ़ताके साथ पालन करे, बादको (आत्मनः) आत्माके (परमं पदं) रागद्वेषादिरहित परम वीतराग-पदको (प्राप्य) प्राप्त करके (तान अपि) उन व्रतोंको भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ॥८४॥

भावार्थ--प्रथम तो हिंसादिक पंच पापरूप अशुभ प्रवृत्तिको छोड़कर अहिंसादिक व्रतोंके अनुष्ठानरूप शुभ प्रवृत्ति करनी

चाहिये। साथ ही; अपना लक्ष शुद्धोपयोगकी ओर ही रखना चाहिये। जब आत्माके परमपदरूप शुद्धोपयोगकी—परमवीत-रागतामय क्षीणकषायनामक गुणस्थानकी—सम्प्राप्ति हो जावे तब उन व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये। लेकिन जब तक वीत-राग दशा न हो जावे तबतक व्रतोंका अवलम्बन रखना चाहिये, जिससे अशुभकी ओर प्रवृत्ति न हो सके ॥८४॥

किस प्रकार अव्रतों और व्रतोंके विकल्पको छोड़नेपर परमपदकी प्राप्ति होगी, उसे बतलाते हैं—

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(अन्तर्जल्पसंपृक्तं) अंतरंगमें वचन व्यापारको लिये हुए (यत् उत्प्रेक्षाजालं) जो अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका जाल है वही (आत्मनः) आत्माके (दुःखस्य) दुःखका (मूलं) मूल कारण है (तन्नाशे) उस विविध संकल्प विकल्परूप कल्पनाजालके विनाश होनेपर (इष्टं) अपने प्रिय हितकारी (परमं पदं शिष्टं) परमपदकी प्राप्ति कही गई है।

भावार्थ—यह जीव अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्प स्वरूपको भूलकर जब तक बाह्यविषयोंको अपनाता हुआ दुःखोंके मूलकारण अन्तर्जल्परूपी अनेक संकल्प-विकल्पोंके जालमें फँसा रहता है—मन-ही-मन कुछ गुन गुनाता अथवा हवासे बातें करता है—तब तक इसको परमपदकी प्राप्ति

नहीं हो सकती और न कोई सुख ही मिल सकता है। सुखमय परमपदकी प्राप्ति उसीको होती है जो अन्तर्जल्परूपी उत्प्रेक्षाजाल-का सर्वथा त्याग करके अपने ही चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मामें लीन हो जाता है ॥८५॥

उस उत्प्रेक्षाजालका नाश करनेके लिये उद्यमी मनुष्य किस क्रमसे उसका नाश करे, उसे बतलाते हैं—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(अव्रती) हिंसादिक पंच अव्रतों-पापोंमें अनुरक्त हुआ मानव (व्रतं आदाय) व्रतोंको ग्रहण करके, अव्रतावस्थामें होनेवाले विकल्पोंका नाश करे,तथा (व्रती) अहिंसादिक व्रतोंका धारक (ज्ञानपरायणः) ज्ञानभावनामें लीन होकर ,व्रतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहंत-अवस्थामें (परात्मज्ञानसम्पन्नः) केवलज्ञानसे युक्त होकर (स्वयमेव) स्वयं ही-विना किसीके उपदेशके (परः भवेत्) परमात्मा होवे—सिद्ध-स्वरूपको प्राप्त करे।

भावार्थ—विकल्पजालको जीतकर सिद्धि प्राप्त करनेका क्रम अव्रतीसे व्रती होना, व्रतीसे ज्ञानभावनामें लीन होना,ज्ञानभावना-में लीन होकर केवलज्ञानको प्राप्त करना और केवलज्ञानसे संपन्न होकर सिद्धपदको प्राप्त करना है ॥८६॥

जिस प्रकार व्रतोंका विकल्प मोक्षका कारण नहीं उसी प्रकार लिंगका विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं--

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देहएवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(लिङ्ग) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष (देहाश्रितं दृष्टं) शरीरके आश्रित देखा जाता है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः) आत्माका (भवः) संसार है (तस्मात्) इसलिये (ये लिङ्गकृताग्रहाः) जिनको लिङ्गका ही आग्रह है—बाह्य वेष धारण करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसी हठ है (ते) वे पुरुष (भवात्) संसारसे (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं ॥८७॥

भावार्थ—जो जीव केवल लिंग अथवा बाह्य वेषको ही मोक्ष-का कारण मानते हैं वे देहात्मदृष्टि हैं और इसलिये मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते। क्योंकि लिंगका आधार देह है और देह ही इस आत्माका संसार है—देहके अभावमें संसार रहता नहीं। जो लिंगके आग्रही हैं—लिंगको ही मुक्तिका कारण समझते हैं—संसारको अपनाये हुए हैं, और जो संसारके आग्रही होते हैं—उसीकी हठ पकड़े रहते हैं—वे संसारसे नहीं छूट सकते ॥८७॥

जो ऐसा कहते हैं कि 'वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है, इसलिए

अन्वयार्थ--(येषां) जिन जीवोंका (जातिलिंगविकल्पेन) जाति और वेषके विकल्प से मुक्ति होती है ऐसा (समयाग्रहः) आगम-सम्बन्धी आग्रह है-ब्राह्मण आदि जातिमें उत्पन्न होकर अमुक वेष धारण करनेसे ही मुक्ति होती है ऐसा आगमानुबन्धि हठ है (ते अपि) वे पुरुष भी (आत्मनः) आत्माके (परमं पदं) परमपदको (न प्राप्नुवन्त्येव) प्राप्त नहीं कर सकते हैं-संसारसे मुक्त नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ--जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करे तभी मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा आगममें कहा है, वे भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते; क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका संसार है तब संसारका आग्रह रखने वाले उससे कैसे छूट सकते हैं ? ॥ ८९ ॥

उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणादिजातिविशिष्ट शरीरमें निर्ममत्वको सिद्ध करनेके लिये भोगोंको छोड़ देने पर भी अज्ञानी जीव मोहके वश होकर शरीरमें ही अनुराग करने लग जाते हैं, ऐसा कहते हैं—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

अन्वयार्थ--[यत्त्यागाय] जिस शरीरके त्यागके लिये-उससे ममत्व दूर करनेके लिये--और (यद्अवाप्तये) जिस परम-

उसीसे मोही जीव द्वेष करने लगता है। ऐसी हालतमें मोहपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी ही सावधानी की जरूरत है और वह तभी बन सकती है जब साधककी दृष्टि शुद्ध हो। दृष्टिमें विकार आते ही सारा खेल बिगड़ जाता है—अपकारीको उपकारी और उपकारीको अपकारी समझ लिया जाता है ॥९०॥

मोही जीवोंके शरीरमें दर्शनव्यापारका विपर्यास किस प्रकार होता है, उसे दिखलाते हैं—

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके ।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञः) भेदज्ञान न रखने वाला पुरुष (यथा) जिस प्रकार (संयोगात्) संयोगके कारण भ्रममें पड़-

कर—संयुक्त हुए लंगडे और अंधेकी क्रियाओंको ठीक न समझ-कर (पगोर्दृष्टि) लंगड़ेकी दृष्टिको (अन्धके) अन्धे पुरुषमें (संधत्ते) आरोपित करता ह——यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है—(तद्वत्) उसी प्रकार (आत्मनः दृष्टिं) आत्माकी दृष्टिको (अङ्गेऽपि) शरीरमें भी (सन्धत्ते) आरोपित करता है—यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता जानता है।

भावार्थ—एक लंगड़ा अन्धेके कँधे पर चढ़ा जा रहा है और ठीक मार्गसे चलनेके लिये उस अन्धेको इशारा करता जाता है, मार्ग चलनेसे दृष्टि लंगड़ेकी और पद टांगे अन्धेकी काम करती हैं। इस भेदको ठीक न जानने वाला कोई पुरुष यदि यह समझले कि यह अन्धा ही कैसी सावधानीसे देखकर चल रहा है तो वह जिस प्रकार उसका भ्रम होगा उसी प्रकार शरीरारूढ आत्माकी दर्शनादिक क्रियाओंको न समझकर उन्हें शरीरकी मानना भी भ्रम है और इसका कारण आत्मा और शरीर दोनों-का एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है। आत्मा और शरीरके भेदको ठीक न समझने वाला बहिरात्मा ही ऐसे भ्रमका शिकार होता है ॥ ९१ ॥

संयोग की ऐसी अवस्थामें अन्तरात्मा क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

भावार्थ--जिस पुरुषको अन्धे और लंगड़ेका भेद ठीक मालूम होता है ऐसा समझदार मनुष्य जिस प्रकार दोनोंके संपृक्त होने पर भ्रममें नहीं पड़ता अन्धेको दृष्टिहीन और लंगड़ेको दृष्टिवान् समझता है--उसीप्रकार भेदविज्ञानी पुरुष आत्मा और शरीरके संयोगवश भ्रम में नहीं पड़ता--शरीरको चेतनारहित जड और आत्माको ज्ञानदर्शनस्वरूप ही समझता है, कदाचित् भी शरीरमें आत्माकी कल्पना नहीं करता ॥ ९२ ॥

बहिरात्मा और अन्तरात्माको कौनसी अवस्था भ्रमरूप और कौनसी भ्रमरहित मालूम होती है उसे बतलाते हैं--

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९३॥

अन्वयार्थ--(अनात्मदर्शिनाम्) आत्मस्वरूपका वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है ऐसे बहिरात्माओंका (सुप्तोन्मत्तादि

अवस्था एव) केवल सोने व उन्मत्त होनेकी अवस्था ही (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है। किन्तु(आत्मदर्शिनः) अत्मानुभवी अन्तरात्माको (अक्षीणदोषस्य) मोहाक्रान्त बहिरात्माकी (सर्वावस्थाः) सर्व ही अवस्थाएँ–सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओंकी तरह जाग्रत, प्रवुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी––(विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है।

द्वितीय अर्थ—टीकाकारने 'ऽनात्मदर्शिनां' पदको 'न आत्मदर्शिनां' ऐसा मानकर और 'सर्वावस्थात्मदर्शिनां' को एक पद रख कर तथा 'एव' का अर्थ 'भी' लगाकर जो दूसरा अर्थ किया है वह इस प्रकार है––

आत्मदर्शी पुरुषोंकी सुप्त व उन्मत्त अवस्थाएँ भी भ्रमरूप नहीं होतीं; क्योंकि दृढ़तर अभ्यासके कारण उनका चित्त आत्मरससे भीगा रहता है––स्वरूपसे उनकी च्युति नहीं होती— इन्द्रियोंकी शिथिलता या रोगादिके वश उन्हें कदाचित् मूर्छा भी आजाती है तो भी उनका आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटता––वह बराबर बना ही रहता है। किन्तु अक्षीणदोष बहिरात्माके, जो बाल युवादि सभी अवस्थारूप आत्माको अनुभव करता है, वह सब विभ्रम होता है।

भावार्थ––जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है उनको केवल सुप्त व उन्मत्त जैसी अवस्थाए' ही भ्रमस्वरूप मालूम होती हैं किन्तु आत्मदर्शियोंको मोहके वशीभूत हुए रागी पुरुषोंकी सभी

नहीं हो सकता। प्रत्युत इसके, भेद-विज्ञानी होने पर सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ भी आत्माका कोई विशेष अहित नहीं कर सकतीं; क्योंकि दृढतर अभ्यासके वश उन अवस्थाओंमें भी आत्मस्वरूप संवेदनसे च्युति न होनेके कारण विशिष्टरूपसे कर्मनिर्जरा होती रहती है, और यह कर्मनिर्जराही वन्धनका पर्यवसान एवं मुक्तिका निशान है। अतएव भेदविज्ञानको प्राप्त करके उसमें अपने अभ्यासको दृढ़ करना सर्वोपरि मुख्य और उपादेय है ॥ ९४॥

सुप्तादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप संवेदन क्योंकर वना रहता है, इस बातको स्पष्ट करते हैं—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

अन्वयार्थ—(यत्र एव) जिस किसी विषय में (पुंसः) पुरुषको (आहितधीः) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है (तत्रैव) उसी विषयमें उनको (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होजाती है और (यत्र एव) जिस विषयमें (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होजाती है (तत्रैव) उस विषयमें ही (चित्तं लीयते) उसका मन लीन हो जाता है—तन्मय बन जाता है।

भावार्थ—जिस विषयमें किसी मनुष्यकी बुद्धि संलग्न होती है—खूब सावधान रहती है—उसीमें आसक्ति बढ़ कर उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, और जहां श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है

तथा उन्मत्त अवस्था हो जाने पर भी उस ओर चित्तकी वृत्ति नहीं जायगी ॥९६॥

जिस विषयमें चित्तलीन होना चाहिये वह ध्येय दो प्रकार का है—एक भिन्न, दूसरा अभिन्न। भिन्नात्मा ध्येयमें लीनताका फल क्या होगा, उसे बतलाते हैं—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) यह आत्मा (भिन्नात्मानं) अपनेसे भिन्न अर्हन्त सिद्धरूप परमात्माकी (उपास्य) उपासना-आराधना करके (तादृशः) उन्हींके समान (परः भवति) परमात्मा हो जाता है (यथा) जैसे (भिन्ना वर्तिः) दीपकसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्ती भी (दीपं उपास्य) दीपककी आराधना करके - उसका सामीप्य प्राप्त करके (तादृशी) दीपक स्वरूप (भवति) होजाती है।

भावार्थ—जिसमें चित्तको लगाना चाहिये ऐसा आत्मध्येय दो प्रकारका है—एक तो स्वयं अपना आत्मा, जिसे अभिन्न ध्येय कहते हैं; और दूसरा वह भिन्न आत्मा जिसमें आत्मगुणोंका पूर्ण विकास हो गया हो, जैसे अर्हन्त-सिद्धका आत्मा, और जिसे भिन्नध्येय समझना चाहिये। ऐसे भिन्न ध्येयकी उपासनासे भी आत्मा परमात्मा बन जाता है। इसको समझानेके लिए बत्ती और दीपकका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर दिया गया है। बत्ती अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व भिन्न रखते हुए भी जब दीपककी उपा-

स्वरूप-चिंतनमें एकाग्र कर देता है तो उसके वे गुण प्रकट हो-जाते हैं—उस संघर्षसे ध्यानरूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईंधनको जला देती है। और तभी वह आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥९८॥

अब उक्त अर्थका उपसंहार करके फल दिखाते हुए कहते हैं—

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम् ।
स्वतएव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥९९॥

अन्वयार्थ—(इति) उक्त प्रकारसे (इदं) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूपकी (नित्यं) निरन्तर (भावयेत्) भावना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे (तत्) उस (अवाचांगोचरं पदं) अनिर्वचनीय परमात्म पदको (स्वत एव) स्वयं ही यह जीव (आप्नोति) प्राप्त होता है (यतः) जिस पदसे (पुनः) फिर (न आवर्तते) लौटना नहीं होता है—पुनर्जन्म लेकर संसारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता है।

भावार्थ—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए आत्मस्वरूपके पूर्ण विकाशको प्राप्त हुए अर्हन्त और सिद्ध परमात्माका हमें निरन्तर ध्यान करना चाहिये—तद्रूप होनेकी भावनामें रत रहना चाहिये—अथवा अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। ऐसा होने पर ही उस

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ।१००

अन्वयार्थ–(चित्तत्त्वम्) चेतना लक्षणवाला यह जीव तत्त्व (यदि भूतजं) यदि भूतज है—चार्वाकमतके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप भूतचतुष्टयसे उत्पन्न हुआ है अथवा सांख्यमतके अनुसार सहज शुद्धात्मस्वरूपसे उत्पन्न है—उस शुद्धात्मस्वरूपके संवेदना द्वारा थात्मरूप है, तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्नसाध्यं) यत्नसे सिद्ध..न वाला नहीं रहेगा। अर्थात् चार्वाकमतकी अपेक्षा, जो कि शरीरके छूट जानेपर आत्मामें किसी विशिष्टावस्थाकी प्राप्तिका अभाव बतलाता है, मरणरूप शरीरका विनाश होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा और यही अभाव

विना यत्नका निर्वाण होगा, जो इष्ट नहीं हो सकता। और सांख्यमतकी अपेक्षा स्वभावसे ही सदा शुद्धात्मस्वरूपका लाभ मान लेनेसे मोक्षके लिये ध्यानादिक कोई उपाय करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी, और इस तरह निरुपाय मुक्तिकी प्रसिद्धि होनेसे विना यत्नके ही निर्वाण होना ठहरेगा जो उस मतके अनुयायियोंको भी इष्ट नहीं है। (अन्यथा) यदि चैतन्य आत्मा भूतचतुष्टयजन्य तथा सदा शुद्धात्मस्वरूपका अनुभव करने वाला नित्यमुक्त नहीं है। तो फिर (योगतः) योगसे स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति होगी (तस्मात्) चूँकि वस्तुतत्त्वकी ऐसी स्थिति है इसलिये (योगिनां) निर्वाणके लिये प्रयत्नशील योगियोंको (क्वचित्) किसीभी अवस्थामें—दुर्द्धरानुष्ठानके करने तथा छेदन-भेदनादिरूप उपसर्गके उपस्थित होनेपर—(दुःखं न) कोई दुःख नहीं होता है।

भावार्थ—आत्मतत्त्व यद्यपि चेतनामय नित्य पदार्थ है परंतु अनादिकर्मपुद्गलोंके सम्बन्धसे विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं है। ध्यानादि सत्प्रयत्न द्वारा उस परिणतिका दूर होना ही स्वरूपमें स्थिर होना है और उसीका नाम निर्वाण है। चार्वाककी कल्पनानुसार यह जीवात्मा भूतचतुष्टयजन्य नहीं है। भूतचतुष्टयजन्य अनित्य शरीरको आत्मा मानना भ्रम तथा मिथ्या है और ऐसा माननेसे शरीरका नाश होनेपर आत्माका स्वतः अभाव हो जाना ही

निर्वाण ठहरेगा, जो किसी तरह भी इष्ट नहीं हो सकता। ऐसा कौन बुद्धिमान है जो स्वयं ही अपने नाशका प्रयत्न करे? इसी तरह सांख्यमतकी कल्पनाके अनुसार आत्मा सदा ही शुद्ध-बुद्ध तथा स्वरूपोपलब्धिको लिये हुए नित्य मुक्तस्वरूप भी नहीं है। ऐसा माननेपर निर्वाणके लिये ध्यानादिके अनुष्ठानका कोई प्रयोजन तथा विधान नहीं बन सकेगा। सांख्यमतमें निर्वाणके लिये ध्यानादिका विधान है और इसलिए सदा शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप मुक्तिकी यह कल्पना निःसार जान पड़ती है। जब ये दोनों कल्पनाएं ठीक नहीं हैं तब जैनमतकी उक्त मान्यता-को मानना ही ठीक होगा, और उसके अनुसार योग-साधनाद्वारा स्वरूपसंवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करके सकल विभावपरिणतिको हटाते हुए शुद्धात्मस्वरूपमें स्थितिरूप निर्वाणका होना बन सकेगा। इस आत्मसिद्धिके सदुद्देश्यको लेकर जो योगीजन योगाभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं वे स्वेच्छासे अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंका अनुष्ठान करते हुए खेदखिन्न नहीं होते और न दूसरोंके किये हुए अथवा स्वयं बन आए हुए उपसर्गोंपर दुःख ही मानते हैं—ऐसी घटनाओंके घटनेपर वे बराबर अपने साम्य-भावको स्थिर रखते हैं ॥१००॥

यदि कोई कहे कि मरणस्वरूप विनाशके समुपस्थित होनेपर उत्तर-कालमें आत्माका सदा अस्तित्व कैसे बन सकता है? ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः ।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

अन्वयार्थ (स्वप्ने) स्वप्नकी अवस्थामें (दृष्टे विनष्टे अपि) प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादिके विनाश होनेपर भी (यथा) जिस प्रकार (आत्मनः) आत्माका (नाशः न अस्ति) नाश नहीं होता है (तथा) उसी प्रकार (जागरदृष्टे अपि) जाग्रत अवस्थामें भी दृष्ट शरीरादिकका विनाश होने पर आत्माका नाश नहीं होता है। (विपर्यासाविशेषतः) क्योंकि दोनोंही अवस्थाओंमें जो विपरीत प्रतिभास होता है उसमें परस्पर कोई भेद नहीं है।

भावार्थ--आत्मा वास्तवमें सत् पदार्थ है और सत्का कभी नाश नहीं होता-पर्यायें ज़रूर पलटा करती हैं। स्वप्नमें शरीरका नाश होनेपर जिस प्रकार आत्माके नाशका भ्रम हो जाता है किन्तु आत्माका नाश नहीं होता उसी प्रकार जाग्रत अवस्थामें भी शरीर पर्यायके विनाशसे जो आत्माका विनाश समझ लिया जाता है वह भ्रम ही है-दोनों ही अवस्थाओंमें होने वाले भ्रम समान हैं—एकको भ्रम मानना और दूसरेको भ्रम माननेसे इनकार करना ठीक नहीं हैं। वस्तुतः झोंपड़ीके जलने पर जैसे तद्गत आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा भी नष्ट नहीं होता है। आत्मा एक अखंड और अविनाशी पदार्थ है उसके खण्ड तथा विनाशकी कल्पना करना ही नितान्त मिथ्या है॥ १०१॥

जब इस प्रकार आत्मा अनादि निधन प्रसिद्ध है तो उसकी मुक्तिके लिये दुर्द्धर तपश्चरणादिके द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ है; क्योंकि मात्र ज्ञानभावनासे ही मुक्तिकी सिद्धि होती है, ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

* अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(अदुःखभावितं ज्ञानं) जो भेदविज्ञान दुःखोंकी भावनासे रहित है—उपार्जनके लिये कुछ कष्ट उठाये विना ही सहज सुकुमार उपाय-द्वारा बन आता है—वह (दुःखसन्निधौ) परिषह-उपसर्गादिक दुःखोंके उपस्थित होने पर (क्षीयते) नष्ट हो जाता है। (तस्मात्) इसलिए (मुनिः) अन्तरात्मा योगीको (यथाबलं) अपनी शक्तिके अनुसार (दुःखैः) दुःखोंके साथ (आत्मानं भावयेत्) आत्माकी शरीरादिसे भिन्न भावना करनी चाहिये।

भावार्थ—जबतक योगी कायक्लेशादि तपश्चरणोंका अभ्यास करके कष्टसहिष्णु नहीं होता तबतक उसका ज्ञानाभ्यास शरीर-से भिन्न आत्माका अनुभवन—भी स्थिर रहनेवाला नहीं होता। वह दुःखोंके आजानेपर विचलित हो जाता है और सारा भेद-

---

* सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥ ६२ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

विज्ञान भूल जाता है। इसलिये ज्ञानभावनाके साथ कष्ट-सहन-का अभ्यास होना चाहिये, जिससे उपार्जन किया हुआ ज्ञान नष्ट न होने पावे ॥१०२॥

यदि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है तो फिर आत्माके ठहरने पर शरीर कैसे ठहरता है ? ऐसा पूछनेवालेके प्रति कहते हैं—

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(आत्मनः) आत्माके (इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्) राग और द्वेषकी प्रवृत्तिसे होनेवाले प्रयत्नसे (वायुः) वायु उत्पन्न होती है—वायुका संचार होता है (वायोः) वायुके संचारसे (शरीरयंत्राणि) शरीररूपी यंत्र (स्वेषु कर्मसु) अपने अपने कार्य करनेमें (वर्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे आत्मामें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग-द्वेषकी उत्पत्तिसे मन-वचन-कायकी क्रियारूप जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, उससे आत्माके प्रदेश चंचल होते हैं, आत्म-प्रदेशोंकी चंचलतासे शरीरके भीतरकी वायु चलती है और उस वायुके चलनेसे शरीररूपी यंत्र अपना अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं। यदि कोई कहे कि शरीरोंकी यंत्रोंके साथ क्या कोई समान-धर्मता है जिसके कारण उन्हें यंत्र कहा जाता है तो इसके उत्तरमें इतना ही जान लेना चाहिये कि काष्ठादिके बनाये

हुए हाथी घोड़े आदिरूप कलदार खिलोने जिस प्रकार दूसरोंकी प्रेरणाको पाकर हिलने-चलने लग जाते हैं—अर्थात् अपनेसे किये जाने योग्य नाना प्रकारकी क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार शरीरके अंग उपांग भी वायुकी प्रेरणासे अपने योग्य कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होते हैं। दोनों ही इस विषयमें समान हैं ॥१०३॥

उन शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अनारोपना करके जड़-विवेकी जीव क्या करते हैं, उसे बतलाते हैं—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः ।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४

अन्वयार्थ—(जड़) मूर्ख बहिरात्मा (साक्षाणि) इन्द्रियोंसहित (तानि) उन औदारिकादि शरीरयन्त्रोंको (आत्मनि समारोप्य) आत्मामें आरोपण करके—मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ इत्यादि रूपसे उनके आत्मत्वकी कल्पना करके—(असुखं आस्ते) दुःख भोगता रहता है (पुनः) किन्तु (विद्वान्) ज्ञानी अन्तरात्मा (आरोपं त्यक्त्वा) शरीरादिकमें आत्माकी कल्पनाको छोड़कर (परमं पदं) परमपदरूप मोक्षको (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—मूढ बहिरात्मा कर्मप्रेरित शरीर और इंद्रियोंकी क्रियाओंको अपने आत्माकी ही क्रियायें समझता है, और इस तरह भ्रममें पड़कर विषय-कषायोंके जालमें फँसता हुआ अपनेको दुखी बनाता है। प्रत्युत इसके, विवेकी अंतरात्मा ऐसा न करके

शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको आत्मासे भिन्न अनुभव करता है और इस तरह विषय-कषायोंके जालमें न फँसकर कर्म-बन्धनसे छूटता हुआ परमात्मपदको प्राप्त करके सदाके लिये परमानन्दमय हो जाता है ॥१०४॥

आत्मा उस आरोपको कैसे छोड़ता है उसे बतलाते हैं—अथवा श्री पूज्यपाद आचार्य अपने ग्रन्थका उपसंहार करके फल प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तन्मार्ग) उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाने वाले (एतत् समाधितंत्रम्) इस समाधितन्त्रको—परमात्म-स्वरूप संवेदनकी एकाग्रताको लिए हुए जो समाधि उसके प्रतिपादक इस 'समाधितन्त्र' नामक शास्त्रको (अधिगम्य) भले प्रकार अनुभव करके (परात्मनिष्ठः) परमात्माकी भावनामें स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा (संसारदुःखजननीं) चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली (परत्र) शरीरादिपरपदार्थोंमें (अहं धियं परबुद्धिं च) जो स्वात्मबुद्धि तथा परात्मबुद्धि है उसको (मुक्त्वा) छोड़कर (जननाद्विमुक्तः) संसारसे मुक्त होता हुआ (ज्योतिर्मयं

सुखं) ज्ञानात्मक सुखको (उपैति) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—इस पद्यमें, ग्रंथके विषयका उपसंहार करते हुए, श्री पूज्यपाद आचार्यसे उस बुद्धिको संसारके समस्त दुःखोंकी जननी बतलाया है, जो शरीरादि परपदार्थोंमें स्वात्मा-परात्माका आरोप किए हुए है—अर्थात् अपने शरीरादिको अपना आत्मा और परके शरीरादिको परका आत्मा समझती है। ऐसी दुःख-मूलक बुद्धिका परित्याग कर जो जीवात्मा परमात्मामें निष्ठावान होता है—परमात्माके स्वरूपको अपना स्वरूप समझकर उसके आराधनमें तत्पर एवं सावधान होता है—वह संसारके बन्धनोंसे छूटता हुआ केवलज्ञानमय परम सुखको प्राप्त होता है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह 'समाधितंत्र' ग्रन्थ उक्त परमसुख अथवा परमपदकी प्राप्तिका मार्ग है—उपाय प्रदर्शित करने वाला है। इसको भले प्रकार अध्ययन तथा अनुभव करके जीवनमें उतारनेसे वह प्राप्ति सुखसाध्य हो जाती है और इस तरह इस ग्रंथकी भारी उपयोगिताको प्रदर्शित किया है ॥१०५॥

अंतिम मङ्गल-कामना

जिनके भक्ति-प्रसादसे, पूर्ण हुआ व्याख्यान।
सबके उर मंदिर बसो, पूज्यपाद भगवान ॥१॥
पढ़ें सुनें सब ग्रन्थ यह, सेवें अति हित मान।
आत्म-समुन्नति-बीज जो, करो जगत कल्यान ॥२॥

श्रीमद्देवनन्द्यपरमनाम पूज्यपादस्वामी विरचित

इष्टोपदेश

(मङ्गलाचरण)

परमब्रह्म परमात्मा, पूर्ण-ज्ञानधन-लीन ।
वंदों परमानन्दमय, कर्म विभाव-विहीन ॥१॥

पूज्यपाद मुनिराजको, नमन करूँ मनलाय ।
स्वात्म-सम्पदाके निमित, टीका करूं बनाय ॥२॥

ग्रन्थके आदिमें ग्रंथकर्ता पहले यह विचारकर, कि जो जिसके गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक है वह उन गुणोंसे युक्त पुरुष विशेषको नमस्कार करता है, चूंकि इस इष्टोपदेश नामक ग्रन्थके कर्ता आचार्य पूज्यपाद परमात्मगुण प्राप्तिके इच्छुक हैं अतः सिद्ध परमात्माको नमस्कार करते हैं :—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

अर्थ—समस्त कर्मोंके अभावसे—ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंका मूलतः सर्वथा क्षय हो जानेसे—जिसे स्व स्वरूपकी प्राप्ति हो गई है—जिसे स्वयं शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वात्माकी उपलब्धि हो गई है—उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्माके लिये—कर्मोंके विनाश

व्यक्तिरूप चिदानन्द स्वरूपकी उपलब्धि--बिना किसी दृष्टान्तके कैसे हो सकती है ? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :--

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता*।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

अर्थ--जिस तरह सुवर्णरूप पाषाणमें कारण,योग्य उपादानरूप कारणके सम्बन्धसे पाषाण (पत्थर) सुवर्ण हो जाता है,उसी तरह द्रव्यादि चतुष्टयरूप-सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल, और स्वभावरूप--सुयोग्य सम्पूर्ण सामग्रीके विद्यमान होनेपर निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्माकी उपलब्धि हो जाती है ।

भावार्थ--जिस प्रकार खानसे निकलने वाले सुवर्णपाषाणमें सुवर्णरूप परिणमनमें कारणभूत सुयोग्य उपादानके सम्बन्धसे और बाहमें सुवर्णकारके द्वारा ताडन, तापन घर्षणादि प्रयोगों के द्वारा जिस तरह पाषाणसे सुवर्ण अलग हो जाता है--उसमें अब पत्थरका व्यवहार न होकर सुवर्णपनेका व्यवहार होने लगता है । ठीक उसी तरह अनादिकालसे कर्ममलसे कलंकित संसारी आत्मा भी द्रव्य, क्षेत्र कालादि सुयोग्य साधनोंकी उपलब्धिसे अनशनादि बाह्य आभ्यन्तर तप, दशलक्षणधर्म अहिं-

---

* अइसोहण जोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तहय ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥
—मोक्षपाहुडे कुन्दकुन्दः ।

व्रतोंका अनुष्ठान व्यर्थ हो जायगा । इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य महोदय कहते हैं कि स्व-स्वरूपकी प्राप्तिमें व्रतादिक निरर्थक नहीं हैं उनके यथावत पालनसे अशुभ-कर्मोंका निरोध होता है, पुरातन कर्मोंकी निर्जरा होती है । और शुभोपयोगरूप परिणति होनेसे पुण्यकर्मका संचय होता है जिससे स्वर्गादि इष्ट सुखकी प्राप्ति अनायास हो जाती है । अतः द्रव्यादि चतुष्टय रूप सम्पत्तिके रहते हुए भी व्रतोंका पालन निरर्थक नहीं है, इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं* ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार छायामें बैठकर अपने दूसरे साथी की

---

* वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खंहोउ णिरइ इयरेहि ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालं ताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥
मोक्षपाहुडे कुन्दकुन्दः

राह देखने वाले पुरुषको छाया शांति प्रदान करती है और धूपमें बैठकर अपने साथीकी राह देखने वालेको कष्ट प्राप्त होता है। उसी प्रकार व्रतोंके अनुष्ठानसे स्वर्गादि सुखोंके साथ मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रतोंसे नरक दुःख भोगना पड़ता है पश्चात् मुक्ति प्राप्त होती है। अतएव व्रतोंका आचरण करना ही श्रेष्ठ है अव्रती रहना ठीक नहीं।

भावार्थ - ऊपर यह शंका की गई थी कि जब द्रव्यादि चतुष्टयरूप सामग्रीसे ही स्व-स्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी तब व्रतादिकका अनुष्ठान व्यर्थ ठहरेगा। ग्रन्थकार महोदयने उस शंका समाधान करते हुए बतलाया है कि व्रतोंका अनुष्ठान एवं आचरण व्यर्थ नहीं होता; क्योंकि अव्रती रहनेसे अनेक प्रकारके पापोंका उपार्जन होता रहता है और हिताहितके विवेकसे शून्य होता हुआ मिथ्यात्वादि कार्योंमें प्रवृत्ति करने लगता है जिससे अशुभ कर्मोंका बन्ध होता रहता है और उसके विपाकसे फिर नरकादि दुर्गतियोंमें घोर कष्ट उठाना पड़ते हैं। किन्तु अहिंसादि व्रतोंके अनुष्ठानसे नरकादि दुर्गतियोंके वे घोर कष्ट नहीं भोगने पड़ते। क्योंकि वह हित अहितके विवेकसे सदा जागरूक रहता है, पापसे भयभीत रहता है और स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर सावधान रहता है और उनके विपाक स्वरूप स्वर्गादिसुखोंके साथ वह मुक्तिका भी पात्र हो जाता है।

जिस तरह छाया और आतपमें महान् अन्तर है—भेद है—

अर्थ--जो मनुष्य किसी भारको स्वेच्छासे शीघ्र दो कोश ले जाता है वह उस भारको आधा कोश ले जानेमें कभी खिन्न अथवा खेदित नहीं होता-वह आधे कोशको कुछ भी न समझ कर उस भारको शीघ्र ले जाता है। उसी तरह जिस भावमें मोक्ष सुख प्राप्त कराने या देनेकी सामर्थ्य है उससे स्वर्गसुखकी प्राप्ति कुछ भी दूरवर्ती नहीं है अर्थात् वह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो मनुष्य बलशाली एवं साहसी होता है वह सुगम और दुर्गम दोनों प्रकारके कार्योंको सहज ही सम्पन्न कर सकता है। वह सुगम कार्योंकी अपेक्षा कठिन कार्योंके सम्पन्न करनेमें अपनी असमर्थता कभी अनुभव नहीं करता और न वह कभी खेद ही मानता है। वह तो उसे प्रेम और उत्साहके साथ उस भारको उठा लेता है। उसी तरह आत्माके जिस शुद्धोपयोगरूप आत्मपरिणाममें चिरसंचितकर्म-कालिमाको दग्धकर स्वसिद्धिको—स्वात्मोपलब्धिको—प्राप्त करादेनेकी सामर्थ्य है, उससे स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति सहजही हो जाती है। अथवा किसान जिस तरह धान उत्पन्न करनेके लिए बीज बोता है, किन्तु धानके साथ उसे भूसा अनायास ही मिल जाता है। उसी तरह जिसके तपश्चरण-रूप आत्म-साधनामें इतना बल अथवा सामर्थ्य है कि उससे

सो कि कोसद्धं पिहु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥११॥

—मोक्षपाहुडे कुन्दकुन्दः

चिरसंचित कर्म-कालिमा भी क्षणमात्रमें दूर हो जाती है तब उससे इन्द्रियजन्य सुखका मिलना क्या दुर्लभ हो सकता है—नहीं हो सकता ?

आत्म-सुखकी प्राप्तिमें सुद्रव्य सुक्षेत्रादि योग्यसामग्री भी प्रबल कारण है उससे मोक्षरूप महान् कार्यके साथ साधारण स्वर्गादिकका सुख भी प्राप्त हो जाता है, किन्तु अल्पशक्ति वाले व्रताचरणसे स्वर्ग सुख ही मिल सकता है मोक्ष सुख नहीं, अतः ज्ञानीके आत्मभक्ति आदि प्रशस्तकार्योंमें कभी प्रमाद नहीं होता और न वह कभी अव्रतादिमें प्रवृत्ति ही करता है; क्योंकि अव्रतोंसे नरकादि दुःखोंको प्राप्त होगा और व्रताचरणसे स्वर्ग सुखके साथ आत्म-लाभ होगा। अतएव वह तो व्रताचरणके साथ सुद्रव्यादि सामग्रीकी प्राप्तिका भी प्रयत्न करता है। आत्मभक्ति अथवा आत्मध्यानसे स्वर्गसुख व मोक्षसुख दोनोंकी प्राप्ति होती है ऐसा तत्त्वानुशासनमें कहा है—

> "गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।
> अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति" ॥१९६॥
> "ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये।
> तद्ध्यानोपात्त पुण्यस्य स एवान्यस्य मुक्तये" ॥१९७॥

जो योगी गुरुके उपदेशानुसार आत्मध्यान करते हैं उन्हें अनन्तशक्तिवाला यह आत्मा मोक्षसुख अथवा स्वर्गसुख प्रदान करता है। चरम शरीरी मनुष्य जिस समय इस आत्माका अर्ह-

न्त अथवा सिद्ध रूपसे ध्यान करता है उस समय उसे मोक्ष सुख मिलता है। किन्तु चरम शरीरोंको छोड़कर जो मनुष्य अर्हन्त सिद्ध रूपसे आत्माका ध्यान एवं चिन्तन करता है उस समय उसे स्वर्ग सुख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि जब व्रतानुष्ठानके साथ उग्र तपश्चर्या और आत्मध्यानादिसे सर्वथा आत्म-विशुद्धि हो जाती है तब आत्मा परमात्मा हो जाता है। और जब आत्म-विशुद्धिके साथ उस आत्मध्यानादिसे ऐसे पुण्य कर्मका संचय होता है जिससे चक्रवर्त्यादिकी विभूति अथवा स्वर्ग सुखका लाभ होता है। यद्यपि व्रताचरणसे साक्षात् स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति होती है, मोक्षकी नहीं, तो भी व्रतोंके अनुष्ठान विना स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव व्रतोंका आचरण कभी निरर्थक नहीं हो सकता और न आत्मध्यानादि ही अनुपयोगी है।

व्रताचरण और आत्मभक्तिसे जब स्वर्ग सुखकी सिद्धि हो गई तब वहाँ जानेपर क्या क्या फल प्राप्त होते हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

अर्थ—देवगण स्वर्गमें इन्द्रियजन्य और आतंक रहित शत्रु आदिके द्वारा होनेवाले दुखसे रहित—बहुत दीर्घकालतक—तेतीस सागर पर्यंत—भोगनेमें आनेवाले अनन्योपम सुखका—देवोंके सुखके समान उसका—आस्वादन करते हैं।

भावार्थ—सुख आत्माका गुण है उसका विकास कर्मोंके सर्वथा अभावसे होता है। जब तक आत्मा सांसारिक झंझटों और कर्मबन्धजनित परतन्त्रताका अनुभव करता रहता है तब तक उस अनाकुल आत्मोत्थ अव्याबाध सुखका उसे अनुभव नहीं हो पाता है। परन्तु वेदनीयकर्म इस आत्मिक सुखका प्रबल विरोधी है इसके क्षयोपशमसे जो कुछ भी साता परिणति होती है संसारीजीव उसे ही अज्ञानसे वास्तविक सुख समझ लेते हैं। व्रतादि अनुष्ठानसे मन्दकषायवश जो पुण्यका संचय होता है उससे स्वर्गादिजन्य सातापरिणतिरूप इन्द्रियजनित सुख दीर्घकाल तक भोगनेमें आता है, परन्तु अनाकुल लक्षणरूप वास्तविक सुख इससे विलक्षण है, उसमें इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं रहती, और न कालकी सीमा ही है, वह पराश्रित (पराधीन) भी नहीं है, न क्षणभंगुर है, और न कर्मबन्धनका कारण ही है, और न किसी दुःखके साथ उसका संमिश्रण (मेल) ही है, इसी कारण स्वर्गादिके सुखोंको हेय और वास्तविक आत्मोत्थ सुखको उपादेय बतलाया है। और इसी कारण ग्रन्थकर्ता आचार्यने देवोंके सुखको देवोंके सुखके समान ही बतलाया है जिससे यह स्पष्ट है कि वास्तविक सुखकी उपमा इस इन्द्रियजनित सुखके साथ घटित नहीं होती; क्योंकि इन्द्रिय जनित सुख नश्वर है और दुःखके साथ संमिश्रित है—मिला हुआ है ॥५॥

इस प्रकार सांसारिक और आत्म-सुखका स्वरूप निर्दिष्ट

करने पर भी यदि कदाचित् कोई भ्रमवश दोनों सुखोंमें कोई भेद न करता हुआ हठसे सांसारिक सुखको ही वास्तविक सुख समझे ऐसे शिष्यकी भ्रान्ति-प्रबोधनार्थ आचार्य कहते हैं :—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथाह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

अर्थ—संसारी जीवोंका इंद्रिय जनित सुख वासना मात्रसे उत्पन्न होनेके कारण दुःख रूपही है; क्योंकि आपत्तिकालमें रोग जिस तरह चित्तमें उद्वेग (घबराहट) उत्पन्न कर देते हैं उसी तरह भोग भी उद्वेग करने वाले हैं।

भावार्थ यह पदार्थ मेरा उपकारी है अतएव इष्ट है और यह पदार्थ अनुपकारी होनेसे अनिष्ट है इस प्रकारके विभ्रमसे जो कोई आत्माका संस्कार है उसे वासना कहते हैं। संसारी जीव इसी वासनाके कारण भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले बाधित, विषम और पराश्रित इन्द्रिय जनित सुखमें भ्रमसे वास्तविक सुख-की कल्पना कर लेते हैं। जिस प्रकार आपद्कालमें ज्वरादिक रोग चित्तको उद्वेगित (दुःखित) कर देते हैं, उसी तरह इन भोगों-से भी चित्तमें उद्वेग (घबराहट) उत्पन्न हो जाता है कहा भी है :—

मुचांगं ग्लपयस्मलं क्षिप कुतोऽप्यत्तरच विद्भात्यदो।
दूरे धेहि न हृष्य एष किमभूरन्या न वेत्सि क्षणाम्।

स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्रीक्षिपं-
त्याश्लेषक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सु रतिम् ॥"

भोग उद्वेग जनक हैं, इस विषयके स्पष्टीकरणार्थ टीकाकार द्वारा उद्धृत एक पद्य ऊपर दिया गया है उसका भाव यह है कि-'पति पत्नी परस्पर अपने सुखमें रत थे कि इतनेमें अकस्मात् अर्थ संकटादिकी कोई ऐसी भारी घटना घटी, जिससे पति चिन्तित होकर रति-सुखसे कुछ उदास हो रहा था, तब पत्नी आलिंगनकी इच्छासे अंगोंको इधर उधर चलाती हुई राग वश अनेक ललित वचनोंसे रति करना चाहती है। तब पति उससे कहता है कि तू मेरे अंगोंको छोड़; क्योंकि तू आतापकारिणी है। तू हट जा, इससे मेरी छाती उत्पीड़ित होती है। दूर चली जा, इससे मुझे हर्ष नहीं होता, तब पत्नी ताना मारती हुई कहती है कि क्या अन्यसे प्रीति करता है। तब फिर पति कहता है कि तू समयको नहीं देखती है। यदि धैर्य है तो अपने उद्योगसे इन्द्रियोंको वशमें रख, इस तरह कहता हुआ वह पत्नीको दूर फेंक देता है। मनके व्यथित होनेपर भोग भी उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं। और भी कहा है—

"रम्यं हर्म्यं चन्दनं चंद्रपादा वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः।
नैते रम्याक्षुत्पिपासार्दितानां सर्वारम्भस्तन्दुलाप्रस्थमूलाः ॥"

जो मनुष्य भूख-प्याससे पीड़ित है—दुखी है—उन्हें सुन्दर महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें, वेणु, वीनबाजा और युवती-स्त्रियाँ रमणीय मालूम नहीं होते; क्योंकि जीवोंके सभी आरंभ

तन्दुलप्रस्थ मूल होते हैं—घरमें चावल विद्यमान हैं तो ये उपरोक्त सभी बातें सुन्दर प्रतीत होती हैं अन्यथा नहीं। और भी कहा है—

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्व्वमसह्यम्॥

'जो पक्षी धूपमें अपनी प्यारी प्रियाके साथ उड़ता फिरता था परन्तु उसे धूपका कष्ट मालूम नहीं होता था, रात्रिको जब उस पक्षीका अपनी प्राणप्यारीके साथ वियोग हो गया तब उसे चन्द्रमाकी शीतल किरणें भी अच्छी नहीं लगतीं, क्योंकि मनके दुःखित होने पर सभी चीजें असह्य होजाती हैं।' चूंकि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र अथवा कल्पनासे जायमान है अतः उसमें वास्तविक सुखकी कल्पना करना व्यर्थ है। इसके सिवाय, जो वस्तु अभी थोड़े समय पहले सुखकर प्रतीत होती थी वही अब कुछ समय बाद दुखकर प्रतीत होने लगती है जो सांसारिक भोगोपभोग अथवा सांसारिक सुख, सुखरूप-सा बन रहा था वही कुछ समय बाद आकुलता (दुःख) में परिणत होजाता है। किन्तु वास्तविक निराकुल सुख कभी भी आकुलतारूप परिणत नहीं होता, वह अनन्तकालतक अपने उसी स्वरूपमें स्थिर रहता है, क्योंकि उसमेंसे जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग, श्वास और ज्वरादि रोगोंका सर्वथा विनाश होगया है, वह कर्मोंके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न हुआ आत्मोत्थ और अव्याबाध है।

उसमें परके संमिश्रणका (पराधीनता) अभाव है, वह अपने ही आश्रित है।

यदि सुख और दुःख वासनामात्रसे उत्पन्न होते हैं तो फिर उनकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस शंकाका समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं:—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
मत्तःपुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

अर्थ-जिस तरह मादक कोदों खानेसे उन्मत्त (पागल) हुआ पुरुष पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता उसी प्रकार मोहनीय कर्मके द्वारा आच्छादित ज्ञान भी पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता।

भावार्थ-मादक पदार्थोंका पान करनेसे जिसतरह मनुष्यका हेय और उपादेय-विषयक विवेक नष्ट हो जाता है-उसे पदार्थका यथार्थ परिज्ञान नहीं रहता, वह उन्मत्ततावश कभी स्त्रीको मां और मांको स्त्री भी कहने लगता है,ठीक उसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे जीव भी अपने चिदानन्द स्वरूपको भूल जाता है और उसे हेयोपादेयका भी यथार्थ विवेक नहीं रहता-—अपनेसे सर्वथा भिन्न धनादि सम्पदामें और स्त्री पुत्र मित्रादिके शरीरमें भी आत्मत्वकी कल्पना करने लगता है-—उन्हें अपने मानने लगता है, और अत्यन्त दुःखकर सांसारिक भोगोंको भी सुखकर

मानने लगता है इस तरह मोहादिके उदय से उसे आत्मा भी अनेक प्रकारका प्रतिभासित होने लगता है। कहा भी है :-

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥

जिस तरह मलके सम्बन्धसे मणिके अनेक रूप दीखने लगते हैं। उसी तरह कर्मोंके सम्बन्धसे आत्मा भी अनेक प्रकार का दीखने लगता है किन्तु जब मणिसे वह मल दूर हो जाता है तब उसका वह निर्मल स्वरूप स्पष्ट अनुभवमें आने लगता है। उसी तरह जब आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है—वह अपने चिदानन्द स्वरूपको पा लेता है—तब वह एक अखंड चैतन्यस्वरूप ही अनुभवमें आता है। अस्तु,

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा तो अमूर्त है और कर्म मूर्तिक तथा जड़ हैं। तब अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोंसे बन्ध कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने उक्त पद्यके 'यथा मदनकोद्रवैः' वाक्य द्वारा दिया है जिसमें बतलाया गया है कि— जिस तरह मादक कोदों खानेसे पुरुष उन्मत्त हो जाता है—उसका अतीन्द्रिय ज्ञान भी मूर्छित हो जाता है। अथवा शराब मूर्तिक है पर वह बोतलको नशा नहीं करती, किन्तु उसके पान करने वाले पुरुषको वह पागल बना देती है उस समय उसे हेयोपादेयका कुछ भी विवेक नहीं रहता—उसका ज्ञान मूर्छित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मोह, अज्ञान

और असंयमादि विभावभावोंसे आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, और विकारी होनेसे कर्मोंसे बंध जाता है। वास्तवमें आत्मा अनादिकालसे खानसे निकलने वाले स्वर्ण पाषाणके समान किट्टमा कालिमादिरूप अन्तरंगबाह्य मलोंसे मलिन है-कर्मबन्धके कारण मूर्तिक जैसा बन रहा है इसीसे वह मूर्त कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता रहता है, किन्तु जब आत्मा शुद्ध स्वर्णके समान उभयमलोंसे मुक्त हो जाता है फिर वह कभी भी कर्मोंसे नहीं बंधता।

मोहोदय से आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, विवेकके विनाशसे उसे पदार्थका ठीक परिज्ञान नहीं होता, वह बहिरात्मदशामें रहकर परपदार्थोंमें आत्म कल्पना करने लगता है। स्त्री पुत्र मित्रादिके शरीरोंको भी उनकी आत्मा मानने लगता है। इस तरह जीवकी यह दशा तब तक बनी रहती है जब तक कि वह अन्तरात्मा आत्मज्ञानी नहीं बन जाता। और बहिरात्मपनेको छोड़कर परमात्मपदका साधन नहीं करता, जब वह आत्म-साधना करने लग जाता है तब शीघ्र ही स्वपदको प्राप्त कर लेता है।

वस्तु का वास्तविक स्वभाव न जान सकनेके कारण क्या फल होता है? इसी भावको व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं:-

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

अर्थ—वस्तुके वास्तविक स्वभावसे अनभिज्ञ यह मूढ प्राणी अपने चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्नस्वभावरूप शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र और शत्रु आदि पदार्थोंको अपने मानने लगता है—इन्हें आत्मीय समझने लगता है।

भावार्थ—मोहोदयसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल जाता है- उसे भले बुरेका कुछ भी परिज्ञान नहीं रहता—मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? और संसारके इन धनादि दूसरे पदार्थोंसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? क्या ये सभी पदार्थ मेरी आत्मासे भिन्न हैं—मेरे नहीं हैं। फिर मैं इन्हें अपने क्यों मान रहा हूँ । पर मोहसे मूढ प्राणीका ध्यान इस ओर नहीं जाता और न वह कभी इन विकल्पोंकी ओर ध्यान ही देता है वह तो परमें आत्म-कल्पना करनेमें ही अपनेको सुखी अनुभव करता है।

इसी बातको ग्रन्थकार दृष्टान्त द्वारा उसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं:-

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्व स्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

अर्थ—जिस तरह पक्षीगण पूर्वादि दिशाओं और अंग, वंग, कलिंग आदि देशोंसे आकर वृक्षों पर निवास करते हैं। और प्रातःकाल होते ही अपने अपने कार्य सम्पादनके लिये इच्छानु-सार देशों और दिशाओंमें चले जाते हैं।

भावार्थ--पक्षी गण जिस तरह रात हो जाने पर नाना-देशों और पूर्वादि दिशाओंसे आकर वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही अपने अपने कर्म करनेके लिये इच्छा-नुसार यत्र तत्र चले जाते हैं, उसी प्रकार यह संसारी जीव अपने अपने कर्मानुसार नरक तिर्यंचादि गतियोंमें आकर जन्म लेते हैं और पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगते रहते हैं, और आयुकर्मके समाप्त होते ही इस पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायोंमें चले जाते हैं। अथवा जिस तरह अनेक देशों और दिशाओंसे आए हुए यात्री गण एक ही धर्मशाला तथा सरायमें बसते हैं और प्रातःकाल होते ही सब अपने अपने अभीष्ट स्थानोंको चले जाते हैं। उसी तरह पूर्वोपार्जित कर्मोदयसे यह जीव विभिन्न गतियोंसे आ आकर एक कुटुम्ब रूपी सरायमें इकट्ठे होते हैं और स्वकीय शुभाशुभकर्मोंका फल भोगते रहते हैं और फिर कर्मोदयवश अन्य गतियोंमें चले जाते हैं। अतएव वस्तु स्वरूप-को जानकर पर पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है।

अहित भावको व्यक्त करने वालों पर जो द्वेष भाव होता है उसे दूर करनेके लिये दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहते हैं:—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥१०॥

अर्थ—जिस तरह कचड़ा या मिट्टी आदि काटने वाला पुरुष आंगुराको—कचडा और मिट्टी काटनेके लिये प्रयुक्त किए जानेवाले फावड़ेको—मिट्टी आदि काटनेके लिए नीचे गिराता है और स्वयं भी उसके साथ नीचे गिर जाता है—उसे नम्र होना पड़ता है—उसी प्रकार जो मनुष्य विराधक है—दूसरेका अपकार करता है, मारता है—वह स्वयं भी दूसरे से—अपकार किये गए मनुष्यके द्वारा—मारा जाता है तब वह उस पर क्रोध क्यों करता है ?

भावार्थ—आंगुरा—फावड़ेके समान एक अस्त्र-का प्रयोग करनेवाले मनुष्यको जिस तरह मिट्टी या कचड़ा काटनेके लिये उसके साथ स्वयं भी नीचे जाना या झुकना पड़ता है; क्योंकि उसका काष्ठदण्ड छोटा होता है, उसी प्रकार दूसरेका अपकार करनेवाले मनुष्यको बदलेमें स्वयं ही उस दूसरे मनुष्यके द्वारा जिसका अपकार किया गया था, अपकार किया जाता है कहा भी है :–

'सुखं वा यदि वा दुःखं येन यच्च कृतं भुवि ।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेप मार्गः सुनिश्चितः' ।।

यह बात सुनिश्चित है कि जो मनुष्य दूसरेको सुख या दुख पहुंचाता है, उसे भी दूसरेके द्वारा सुख और दुख भोगना पड़ता है अतः अपकार करने वाले मनुष्यका बदलेमें अपकार करनेवाले पुरुष पर क्रोध करना व्यर्थ है, दूसरे यदि कोई अपना

अपकार करता है या उसमें निमित्त रूपसे प्रेरक होता है, तब यह सोचनेकी आवश्यकता है कि यह पुरुष जो मेरा अपकार करता है अथवा उसमें सहायक हो रहा है सो यह मेरे प्रत्युपकार का बदला दे रहा है फिर मुझे इसके प्रति रुष्ट होना उचित नहीं, किन्तु अपने किए हुए कर्मका फल समझ कर उसे समतासे सहनेका प्रयत्न करना चाहिए। अथवा अपकार करने वालेके प्रति ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे वह अपने अपकारका करना ही छोड़ दे और मध्यस्थभाव अपना ले।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! दारादि इष्ट-पदार्थोंमें द्वेष करने वाला मनुष्य अपना क्या अहित करता है अथवा उसे क्या फल प्राप्त होता है इसी बातको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवःसंसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

अर्थ—यह लोकोक्ति है कि—जिस तरह मंदराचलको दीर्घनेत्राकर्षणके कारण बहुत काल तक समुद्रमें घूमना पड़ा था, उसी प्रकार यह जीव भी अज्ञानसे—देहादिकमें होने वाले आत्मविभ्रमसे—राग तथा द्वेष रूपी दीर्घ डोरीके कारण जिसके द्वारा दूध मथ कर मक्खन निकाला जाता है उस आक-

षंण क्रिया से-चिरकाल तक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच परावर्तन संसार समुद्रमें भ्रमण करता है।

विशेषार्थ-अन्य सम्प्रदायमें यह कथा प्रसिद्ध है कि जब मंदराचलको विशालनेत्र धारण करनेकी इच्छा हुई तब नारायन-ने नेतरीसे समुद्रका मन्थन किया, जिससे मंदराचलको बहुत काल तक संसार में घूमना पड़ा था। उसी प्रकार देहादिक परपदार्थों में होने वाले अज्ञानके कारण जो जीव रागद्वेषमें संलग्न रहते हैं, इष्ट अथवा प्रिय पदार्थोंमें प्रेम, अनिष्ट एवं अप्रिय पदार्थोंमें द्वेष रखते हैं वे चिरकाल तक संसार में जन्म मरणादिके अनेक कष्ट उठाते रहते हैं। क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही सहयोगी हैं इनमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध भी पाया जाता है, द्वेषके विना राग नहीं रहता और राग विना अकेला द्वेष भी नहीं रहता, कहा भी है:-

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैव निश्चयः।
उभावेतै समालम्ब्य विक्रमत्यधिकं मनः॥

यह सुनिश्चित है कि जहां पर राग होता वहां द्वेष नियम-से रहता है। और जहाँ ये दोनों होते हैं वहां मन अत्यधिक विकारी हो जाता है-क्षोभको प्राप्त हो जाता है- अतएव जो मनुष्य यह दावा करते हैं कि हम दूसरों पर प्रेम ही करते हैं, द्वेष नहीं करते। यह उनकी भ्रामक कल्पना है; क्योंकि यदि आत्मामें प्रेम है किसी पर राग विद्यमान है तो कहना होगा कि

उसका किसी पदार्थ विशेष में द्वेष भी होगा। लोकमें जितने भी दोष हैं वे सब राग-द्वेष मूलक हैं। यदि आत्मामें राग-द्वेषकी सत्ता मौजूद है तो वहाँ दोषोंकी सत्ता विद्यमान ही है कहा भी है–

आत्मनि सति परसंज्ञा स्व-पर-विभागात्परिग्रहद्वेषौ ?
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते ॥

क्योंकि जहाँ आत्मामें अपनेपनकी कल्पना है वहां पर संज्ञा रहती ही है। यह मेरा है और यह दूसरेका है इस तरह का स्व और परका विभाग है तो वहाँ पर नियमसे रागद्वेष है और जहाँ पर दोनों रहते हैं। वहां पर अन्य दोष अनायास ही आ जाते हैं, क्योंकि अन्य दोषोंकी उत्पत्तिका मूल कारण रग द्वेष है, सभी दोष राग और द्वेषसे परिपूर्ण हैं। जीवकी यह राग-द्वेष परम्परा ही संसार परिभ्रमणका कारण है इसीसे आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार-भ्रमणके कारण रागद्वेष ही बतलाए हैं। जैसा कि पंचास्तिकाय के निम्न पद्यों से प्रकट है:–

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि सुगदी ॥ १२५
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
ते हिं दु विसय गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२६
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार-चक्क-वालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणो सणिहणो व।" १२[illegible]

जो जीव संसार परिभ्रमण करता है उनके राग द्वेषादि परिणामोंकी उत्पत्ति होती रहती है। और उनके द्वारा शुभ अशुभ कर्मोंका आस्रव होता रहता है, अशुभ कर्मास्रवसे कुगति तथा शुभ कर्मास्रवसे सुगति मिलती है। गतियोंमें जानेके लिये शरीरकी प्राप्ति होती है, शरीरकी प्राप्तिसे इंद्रियोंकी प्राप्ति होती है और उनसे इंद्रियोंके स्पर्शादि विषयोंका ग्रहण होता है और विषय ग्रहणसे उनमें अच्छे-बुरेपनकी कल्पना जाग्रत होती है अर्थात् राग-द्वेष होने लगते हैं, और राग-द्वेष होनेसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। इसी तरह यह जीव अनादि कालसे सदा संसारमें रुलता और दुःख उठाता रहता है। कभी इसे आत्माके वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव राग द्वेष सर्वथा हेय ही हैं।

अब शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यह जीव मोक्षमें तो सुखी रहता ही है किन्तु यदि संसारमें भी सुखी रहने लगे तो इसमें क्या दोष है? ऐसी स्थितिमें संसारको दुष्ट और त्याज्य नहीं कहना चाहिए। क्योंकि संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं सो जब संसारमें भी सुख मिले तब फिर संत पुरुष उस संसार-छेदनका प्रयत्न क्यों करते हैं? इस शंका-के समाधानार्थ आचार्य कहते हैं:—

विपद्भवपदावर्ते पदिके वातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

अर्थ—संसाररूपी पगसे चलने वाले यंत्रमें उस घटी यंत्र दण्डके समान जब तक एक विपत्ति दूर होती है तब तक अन्य बहुतसी विपत्तियाँ आगे आकर उपस्थित हो जाती हैं—उन विपत्तियोंका कभी अन्त नहीं हो पाता।

भावार्थ—कुएँसे पैर चला कर जिसके द्वारा जल निकाला जाता है उस यंत्रका नाम पदावर्त है उस यंत्रके एक दण्डके घड़ों के रिक्त होते ही दूसरे घड़े सामने आ जाते हैं। ठीक उसी प्रकार यह संसार भी एक तरहका घटी यंत्र ही है इसमें जब तक एक विपत्ति दूर नहीं हो पाती, तब तक दूसरी अनेक नई आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं इस तरह इस संसारमें कभी साता कभी असाता बनी रहती है, एक भी समय यह जीव उससे मुक्त नहीं हो पाता। चाह-दाहकी भीषण ज्वालाएँ उत्पन्न होती रहती हैं और यह विकल हुआ उन्हींमें लिप्त रहता है इस तरह संसारमें सदा दुःख शोक आदि उपाधियाँ बराबर होती रहती हैं और यह जीव कभी भी वास्तविक आनन्दका आस्वाद नहीं कर पाता, पर यह मूर्ख जीव कर्मोदय वश, पर परिणतिके संयोगमें सुखकी कल्पना करने लगता है। यदि संसार परिभ्रमण करते हुए भी वास्तविक सुख मिलता होता तो तीर्थंकर और चक्रवर्त्यादिक महा पुरुष उस सांसारिक वैभवको कभी नहीं छोड़ते और न उस वैभवको असार एवं दुःखका कारण समझकर उसका परित्याग ही करते, जिसे छोड़कर वे दिगम्बर

साधु बन जाते हैं और घोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि संसारके भोगादिक कभी सुखके कारण नहीं हो सकते ॥१२॥

संसारमें सभी जीव दुःखी नहीं होते, अनेक सम्पत्तिशाली भी दिखाई पड़ते हैं। अतएव सम्पत्तिशालियोंको तो सुखी मानना ही चाहिए। इसी शंकाके निरासार्थ आचार्य कहते हैं:-

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थं मन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

अर्थ—जिस तरह ज्वरसे पीड़ित मनुष्य ज्वरकी दाहको मिटानेके लिए घीका पानकर अपनेको स्वस्थ मानता है परन्तु वास्तवमें वह नीरोग अथवा स्वस्थ नहीं है और न घीके पानसे वह स्वस्थ हो ही सकता है किन्तु उल्टा दुःखी ही होता है उसी तरह अज्ञानी मनुष्य धन आदि इष्ट वस्तुओंके समागमसे अपनेको सुखी मानता है, पर वह वास्तवमें सुखी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि धनके उपार्जनमें अत्यन्त कष्ट होता है और उससे अधिक कष्ट उसके संरक्षणमें होता है—धन होजाने पर भी उसकी बड़ी कठिनतासे रक्षा हो पाती है, धन नश्वर है—देखते देखते नष्ट हो जाता है—लाखों करोड़ोंकी सम्पत्ति क्षणमात्रमें भस्म हो जाती है।

भावार्थ—धनादिक वस्तुएँ सुख दुःखकी जनक नहीं हैं केवल उनकी तृष्णा ही दुःखकी जनक है और उसकी आंशिक

पूर्ति सुखकी उत्पादिका कही जाती है, पर वास्तवमें धनादिक पदार्थ पर हैं वे सुख दुःखके जनक नहीं हो सकते उनमें हमारी आत्म-कल्पना ही सुख दुःखकी उत्पादिका है। कहा भी है:—

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्।

धनके उपार्जन करनेमें दुख होता है—धनलिप्सामें अनेक अयोग्य कार्य भी करने पड़ते हैं। और धन होजाने पर चोर आदिसे उसकी रक्षा करनेमें और भी अधिक कष्ट हो जाता है जब धनागम होता है—अर्थात् कदाचित् जब इच्छानुसार धनकी आप्ति हो जाती है तब तृष्णा और भी अधिक प्रबल हो उठती है और वह उससे दशगुणेकी प्राप्तिकी चाहमें लग जाता है और यदि संचित धन विवाहादि कार्योंमें खर्च होगया तो फिर उसकी रात दिन चिन्ता लगी रहती है कि वह धन कब और कैसे प्राप्त हो ? इस तरह धनकी आयमें और व्यय (विनाश) दोनों अवस्थाओंमें दुःख ही रहता है ऐसे उस धनके लिए धिक्कार है जो दुःखका कारण है। ऐसी हालतमें धन सुखका कारण कैसे हो सकता है ?

फिर भी शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! जब कि सम्पदा लोकमें महाकष्टकी उत्पादक है तो फिर लोग उसका परित्याग क्यों नहीं करते ? रात दिन उसके चक्करमें क्यों यत्र तत्र घूमते

फिरते हैं। इस शंकाका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव ऽनेक्षते* ।

दह्यमानमृगाकीर्णं वनांतरतरुस्थवत् ॥१४॥

अर्थ—जिस तरह हिरण आदि अनेक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें आग लग जाने पर वृक्षके ऊपर बैठे हुए उस मनुष्यके समान यह अज्ञानी जीव दूसरोंकी विपत्तिकी तरह अपनी विपत्ति-को नहीं देखता है।

भावार्थ—हिरण, सिंह और व्याघ्रादि अनेक जीवोंसे भरे हुए जंगलमें आग लग जाने पर उससे बचनेके लिए यदि कोई मनुष्य किसी ऊँचे वृक्षकी शाख पर बैठकर यह समझता है कि मैं ऊँचे वृक्ष पर बैठा हुआ हूँ अतएव यह अग्नि मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती; परन्तु उस अज्ञानी जीवको यह पता नहीं होता कि जिस प्रकार इस जंगलके जीव मेरे देखते देखते जल रहे हैं उसी प्रकार थोड़ी देरमें मैं भी भस्म हो जाऊँगा। ठीक इसी प्रकार यह अज्ञ प्राणी धनादिकसे अन्य मनुष्य पर आई हुई विपत्तिका तो स्मरण करता है, परन्तु अपने लिये धनादिके समुपार्जन करनेमें थोड़ा भी विश्राम नहीं लेता और न उस संचित धनसे

---

*परस्येव न जानाति विपत्ति स्वस्य मूढधीः।
वने सत्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥

—ज्ञानार्णवे शुभचन्द्रः

होनेवाली महान् विपत्तिका स्मरण ही करता है। अस्तु धनादि-के कारण यदि किसी मनुष्य पर कोई विपत्ति आई हुई देखे तो उसे धनकी आशा सर्वथा छोड़ देनी चाहिये ऐसा करनेसे वह उस आनेवाली विपत्तिसे अपनी रक्षा करनेमें तत्पर हो जाता है परन्तु वह उस धनाशाको नहीं छोड़ता, यही उसका अज्ञान है और उसे दुःखका जनक है। वह तो मद्यके नशेमें उन्मत्त हुए मनुष्यके समान अपने स्वरूपको भूलकर अपने हितका ध्यान नहीं रखता। उसी प्रकार धनी भी दूसरोंकी सम्पत्ति, घर आदि विनष्ट होते हुए देखकर भी कभी यह विचार नहीं करता कि यह कालाग्नि इस तरह मुझे भी नहीं छोड़ेगी। अतः मुझे अपना आत्महित करना ही श्रेयस्कर है ॥ १४ ॥

फिर भी शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! धनसे अनेक विपत्ति होने पर भी धनी लोग उन्हें क्यों नहीं देखते? इस शंका-का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे वत्स! लोभके कारण धनी लोग सामने आई हुई विपत्तिको नहीं देखते हैं :—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनं ॥१५॥

अर्थ—कालका बीतना, आयुका क्षय और धनकी वृद्धिका कारण है—ज्यों ज्यों काल व्यतीत होता जाता है त्यों त्यों जीवोंकी आयु कम होती जाती है और समुचित व्यापारादि साधनोंसे धनकी अभिवृद्धि भी होती चली जाती है। तो भी

धनी लोग कालका नाश होना अथवा व्यतीत होना अच्छा समझते हैं, क्योंकि धनियोंको धन अपने जीवनसे भी अधिक प्यारा है।

भावार्थ—अनादिकालसे इस आत्मा पर लोभकषायका तीव्र संस्कार जमा हुआ है। उसके कारण यह आत्मा धनको अपने जीवनसे भी अधिक प्रिय समझता है। यद्यपि कालका बीतना, और आयु का क्षय धनवृद्धिमें कारण है, फिर भी धनी लोग आयुकी कुछ भी पर्वाह नहीं करते, किन्तु धनवृद्धिकी लिप्सासे कालके बीतनेको श्रेयस्कर समझते हैं। यही कारण है कि धनी लोग धनादिसे समुत्पन्न विपत्तियोंका कोई विचार नहीं करते, यह सब लोभका ही प्रभाव है। यही कारण है कि धनी लोग धनाश्रित विपत्तियोंका ध्यान नहीं करते, यदि ध्यान होता भी है तो उसकी अभिवृद्धि और संरक्षण ही होता है, आगत विपदाका नहीं, यही लोभोदय जन्य अविवेकका माहात्म्य है॥ १५॥

अब शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि धनके बिना पुण्यवृद्धिकी कारणभूत पात्रदान और देवपूजादि प्रशस्त क्रियाओंका अनुष्ठान करना संभव नहीं है, जब कि धन पुण्यबन्धका कारण है तब उसे निंद्य नहीं कहा जा सकता, इस कारण उसे प्रशस्त मानना ही चाहिए और जिस तिस प्रकारसे धनोपार्जन कर पात्रदानादि शुभ कर्मोंमें लगा कर पुण्य पैदा करना चाहिए। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥१६॥

अर्थ–जो निर्धन मनुष्य पात्रदान, देवपूजा आदि प्रशस्त कार्योंके लिए अपूर्व पुण्यप्राप्ति और पापविनाशकी आशासे सेवा, कृषि और वाणिज्यादि कार्यों द्वारा धन उपार्जन करता है वह मनुष्य अपने निर्मल शरीर में 'नहा लूंगा' इस आशासे कीचड़ लपेटता है।

भावार्थ–संसारके अधिकांश भोले प्राणियोंकी यह धारणा रहती है कि धन प्राप्तिके लिये यदि नीचसे नीच कार्य भी करना पड़े तो भी करके धन संचय कर लेना चाहिए, धन प्राप्तिसे जो पापास्रव होगा उसके बदलेमें उस धनको पात्रदान, देवपूजा, गुरुभक्ति, सेवा और परोपकार आदि सत्कार्योंमें लगाकर पुण्य प्राप्त कर लिया जावेगा। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि जिस तरह किसी मनुष्यका शरीर निर्मल है फिर भी वह यह समझकर 'नहा लूंगा' इस आशयसे अपने शरीरमें कीचड़ लपेट लेता है। तो उसका यह कार्य ठीक नहीं कहा जा सकता। उसी तरह पापकरके धन संचय करनेवाला मनुष्य यह समझकर कि मैं अपने धनको दानादि अच्छे कार्योंमें खर्च कर दूंगा, कुत्सित मार्गोंसे धनादिका अर्जन करता है वह संसारमें अज्ञानी माना जाता है। क्योंकि इस प्रकारके कार्योंसे उस मनुष्यकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। दूसरे यदि भाग्यवश कदाचित् धन

मिल भी जाता है तो वह पाप कार्योंमें ही लग जाता है अच्छे कार्योंमें उसके लगनेकी बहुत ही कम संभावना है। वास्तवमें धनका उपार्जन शुद्ध भावोंसे नहीं हो सकता, जैसाकि कहा भी है:—

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥१॥

जिस तरह स्वच्छ एवं निर्मल जलसे नदियोंकी भरवारी नहीं होती—गंदले और मलिन जलसे ही वे परिपूर्ण होती हैं—उसी तरह सज्जनोंकी सम्पदा शुद्धमार्गसे कमाए हुए धनसे नहीं चढ़ती। धन संचयमें निंदितमार्गका आश्रय लेना ही पड़ता है फिर भी विवेकीजनोंका कर्तव्य है कि वे जहां तक बने विशुद्ध नीतिमार्गसे ही धनोपार्जन करें। और लोकमें जो निंदितमार्ग हैं उनसे धन कमाकर अच्छे कार्योंमें लगानेकी भावनाका परित्याग करें, क्योंकि यह भावना हितकारी नहीं है।

ज्ञानी तो ऐसा विचार करता है कि जब धनार्थी धनकी अप्राप्तिमें दुखी हैं और धनी अतृप्तिवश दुखी है। केवल अकिंचन मुनि ही सुखी हैं? क्योंकि उनके धनाशा नहीं है। ऐसी स्थिति में धनकी प्राप्ति कैसे उपादेय हो सकती है? जब तू निर्धन है तो धन संग्रहकी आकांक्षा मत कर; क्योंकि जिस धनको तू

---

१ अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५
आत्मनुशासने गुणभद्रः

उपादेय और पुण्योत्पादक समझकर प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उसी धनको राजा महाराजा सेठ साहूकार अतृप्तिकारक, मोह-वर्धक और पापबन्धक जानकर त्याग कर देते हैं और संसारके इन पदार्थोंको छोड़कर उस वीतराग साधुवृत्तिको धारण करते हैं जो आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्तिका प्रधान कारण है। अतः यदि तुझे भी आत्मसुख प्राप्तिकी इच्छा है तो तू भी अपनी विवेक-बुद्धिके कारण पर परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धिका परित्याग कर अपने स्वरूपको पहचाननेका यत्न कर ॥१६॥

केवल पुण्यकर्म उपार्जन करनेके कारण ही यदि धनको प्रशस्त माना जाय, ऐसा जो तूने कहा था वह ऊपर बताये हुए मार्गसे प्रशस्त नहीं हो सकता। तब केवल भोगोपभोगके लिए धनका साधन कैसे प्रशस्त हो सकता है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१९

अर्थ—भोग आरम्भमें—उत्पत्तिके समय अनेक संताप देते हैं—शरीर इन्द्रिय और मनको क्लेशके कारण हैं—और अनादि भोग्यद्रव्यके सम्पादन करनेमें भी कृष्यादि कारणोंसे अत्यन्त दुःख होता है और जब वे प्राप्त हो जाते हैं तब उनके भोगनेसे तृप्ति नहीं होती—पुनः पुनः भोगनेकी इच्छा बनी रहती है और चित्तमें व्यग्रता तथा घबड़ाहट होती रहती है इसलिये

अतृप्तिवश अनन्तकालमें भी भोगोंको छोड़नेका साहस नहीं होता। ऐसे अहितकर भोगोंको कौन विद्वान सेवन करेगा--कोई भी बुद्धिमान नहीं करेगा।

भावार्थ--आदि मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थामें भी भोगोंसे सुख मिले तब भोगोंको अच्छा भी माना जाय; किन्तु उनमें तो सुखका लेश भी नहीं है; क्योंकि कृषि सेवा आदि अनेक कष्टकर कार्योंसे अनादि भोग्य पदार्थोंका सम्पादन होता है इसलिए उनके प्रारंभमें ही शरीर इन्द्रिय और मनको अत्यन्त कष्ट होता है। यदि कदाचित् भोग प्राप्तिसे सुखकी कल्पना की जाय तो भी वृथा ही है, क्योंकि अभिलषित भोगोंके प्राप्त होने पर भी तृष्णा नागन अपनी चपलतासे जगतको अशान्त बनाये रहती है। ज्यों ज्यों भोग भोगे जाते हैं त्यों त्यों तृष्णा बलवती होती जाती है और उन्हें बराबर भोगते रहने पर भी कभी तृप्ति नहीं होती, तथा अतृप्तिमें खेद एवं व्यग्रता होती है। किसी कविने ठीक कहा है:--

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति॥

ज्यों ज्यों अभिलषित भोग प्राप्त होते जाते हैं और उनमें सुखकी कल्पना की जाती है त्यों त्यों तृष्णा भी बढ़ती जाती है और उनसे सदा अतृप्ति ही बनी रहती है। कदाचित् यह कहा जाय कि भोगोंके यथेष्ट भोग लेने पर मनुष्यकी तृष्णा शान्त हो

जायगी, और तृष्णा-शान्तिसे सन्तोष हो जायगा सो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि अन्त समयमें अशक्त होने पर भी भोग नहीं छोड़े जा सकते। भले ही वे हमें स्वयं छोड़ दें। पर भोगोंकी वृद्धिमें तृष्णा भी उतनी ही बढ़ती जाती है, फिर उनसे तृप्ति या सन्तोष नहीं होता। कहा भी है :-

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिनदीशतैः।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः॥

अग्निमें कितना तृण और काष्ठ क्यों न डाला जाय लेकिन तृप्ति नहीं होती, शायद वह तृप्त हो जाय, सैंकड़ों नदियोंसे भी समुद्रकी तृप्ति नहीं होती, यदि कदाचित् उसकी भी तृप्ति हो जाय, परन्तु भोगोंसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। कर्म बड़ा ही बलवान है। और भी कहा है:--

तदात्व सुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकः॥

अतएव जो मनुष्य मूढ़ है—हित अहितके विवेकसे शून्य हैं--वे भोग भोगते समय उन्हें सुखकारी समझ भोगोंमें अनुराग करते हैं--किन्तु जो मनुष्य परीक्षा प्रधान हैं—हेयोपादेयके विवेकसे जिनका चित्त निर्मल है, वे इन दुःखदायी, क्षणिक विनाशी भोगोंकी ओर न झुककर हितकर मार्गका ही अनुसरण करते हैं।

यदि यह कहा जाय कि विद्वान लोग भी विषय भोगते देखे

जाते हैं उनकी भी विषयोंसे विरक्ति अथवा उदासीनता नहीं देखी जाती, और पुराणादि ग्रन्थोंमें भी उनके भोग भोगनेकी कथा सुनी जाती है। ऐसी स्थितिमें कौन विद्वान इनका उपभोग करेगा? यह आपका उपदेश संगत नहीं जान पड़ता। और यह कहना भी ठीक नहीं है कि विद्वान् लोग भोग नहीं भोगते, इस शंकाका समाधान यह है कि यद्यपि भेदविज्ञानी पुरुष चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे भोगोंके छोड़नेमें सर्वथा असमर्थ हैं—वे उन्हें छोड़ नहीं सकते। पर उनका उनसे आन्तरिक राग नहीं होता, वे चारित्रमोहका मंद उदय होते ही उनका परित्याग कर देते हैं; क्योंकि श्रद्धामें उन्हें वे अप्रिय और अहितकर ही समझते हैं। परन्तु जिस तरह अज्ञानी भोगोंको हितकारी समझकर आसक्तिसे उनका सेवन करता है वैसा विवेकी जीव नहीं करते। वे तो उन्हें हेय ही समझते हैं। जिस तरह षट्रस व्यंजनमय सुस्वादु भोजन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि करते हैं। पर उन दोनोंके स्वादोंमें और दृष्टिमें बड़ा ही अन्तर है। कदाचित् यदि दालमें नमक अधिक हो जाता है तो मिथ्यादृष्टि दालको खारी बतलाता है, जब कि सदृष्टि दालको खारा न बतलाकर खारापन नमकका बतलाता है इसीका नाम विवेक है।

दूसरे यदि ज्ञानी जीव सांसारिक भोग्य सामग्रीमें ही सुख मानते तो फिर उसका परित्याग ही क्यों करते। संसारमें अनेक प्राणी ऐसे हुए हैं जिन्होंने इस विभूतिको बिना भोगे ही जीर्ण

तृणके समान छोड़ दी और आप स्वयं आत्म-साधनामें तत्पर हुए। उदाहरणके लिए वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाँच तीर्थंकरोंको ही ले लीजिए, उन्होंने भोगोंको बिना भोगे ही उन्हें कुमारअवस्थामें,छोड़कर और आत्म-साधना कर जगतका महान् उपकार किया है। आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासनमें कहा है—

आर्थिभ्यस्तृणवद् विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्,
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्य्यग्रहीत्,
देते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमस्त्यागिनः ॥१२॥

इस पद्यमें बतलाया है कि किसी मनुष्यने तो विषयभोगोंको तृणके समान समझकर अपनी लक्ष्मी अर्थिजनोंको दे दी, और अन्य किसीने उस धनादि सम्पत्तिको पापरूप तथा अन्यको न देने योग्य समझकर किसीको नहीं दी, किन्तु स्वयं ही उसका परित्याग कर दिया। अन्य किसी महापुरुषने उस विभूतिको पहले ही अकुशल (दुःखरूप) समझकर ग्रहण ही नहीं की। इन तीनों त्यागियोंमेंसे एक एक अपने अपने दूसरे त्यागीसे उत्तम है। पर वह सर्वोत्तम त्यागी है जिसने वैभवका ग्रहण ही नहीं किया। वज्रदन्त चक्रवर्तीके पुत्रोंने पिताके विरागी होने पर स्वयं भी उसी मार्गका अनुसरण किया; किन्तु दूसरोंके द्वारा भोगी हुई उस उच्छिष्ट सम्पदाका भोगना उचित नहीं समझा और पिताके

साथ ही दीक्षित हो गए। भोग भोगनेवालोंमें भी ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्हें कर्मोदयकी वरजोरीसे भोग तो भोगना पड़े, परन्तु अन्तरंगसे उनमें अत्यन्त उदासीनता रही, और राज्यकार्य करते हुए भी भाव विशुद्धिमें कोई अन्तर नहीं आने दिया, यही कारण है कि भरत चक्रवर्ती दीक्षा लेते ही उस केवलज्ञान रूप विभूतिके पात्र बने। अतः ज्ञानीके सम्बन्धमें यह कल्पना करना ठीक नहीं है कि वे भोगोंको भोगते ही हैं किन्तु उनका परित्याग नहीं करते। कहा भी है:—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो,
व्ययोयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकाला विमा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥

यह फल है, यह क्रिया है, यह कारण है, यह उसका क्रम है, यह हानि है और भोगोंके सम्बन्धसे यह फल प्राप्त होता है, यह मेरी दशा है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश और काल ऐसा है। इस तरहकी विचारपूर्णबुद्धि विद्वानकी ही होती है। अज्ञानीकी नहीं। अतएव ज्ञानी हेय बुद्धिसे भोगोंको भोगता हुआ भी जिस समय उसका चारित्रमोहनीयकर्म निर्बल हो जाता है—उसकी फलदानकी सामर्थ्य क्षीण हो जाती है—तब वह विषय-भोगोंका सर्वथा परित्याग कर देता है परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उनके प्रति तीव्रराग है। वास्त-

वमें विषयसुख विषही है, जैसा कि किसी कविने कहा है :-

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन ।
प्रसभमनभूय मनो भवे भवे नैव चेतयते ॥

विषयभोग-सम्बन्धी यह विष अत्यन्त विषम है—भयंकर है। जो मनुष्य इस विषका पान करता है वह इस विष द्वारा भव भवमें विषय सुखका अनुभव करता हुआ उससे समुत्पन्न दुःखोंको सहता है फिर भी वह नहीं चेतता—अज्ञानी हो बना रहता है। यह सब मोहका ही माहात्म्य है।

अतः जो यह कहा गया था कि धन भोग उपभोगकी सामग्रीका जनक है इस कारण प्रशस्त है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भोग उपभोग अशुभकर्मके कारण हैं और धन उनका उत्पादक है तो वह धन भी सर्वथा प्रशस्त कैसे कहा जा सकता है ? वह अशुभकर्म और संकलेश परिणामोंका जनक होनेसे निंद्य ही है ॥१७॥

हे भद्र ! तू जिस शरीरके उपकारके लिये अनेक दुःखोंसे वस्तु प्राप्तिकी इच्छा करता है उस शरीरके स्वरूपका तो विचार कर कि वह काया कैसी है ? इसी विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं—

भवंति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

जिसके सम्बन्धसे पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं

और जो सदा ही अपाय स्वरूप है–विनाशीक और सन्तापकारक है उस शरीरका पवित्र पदार्थोंसे उपकार करना व्यर्थ है ॥१८॥

विशेषार्थ--यह शरीर पुद्गलका पिण्ड है, अस्थि, पल और नसाजालसे वेष्टित है, चमड़ेसे ढका हुआ है, मल-मूत्रसे भरा हुआ है। इसके नव द्वारोंसे सदा मल बहता रहता है। ऊपरसे यह अच्छा प्रतीत होता है परन्तु जब इसके अन्तरस्वरूप पर दृष्टि जाती है तो यह अत्यन्त अशुचि, घृणित और दुःखका कारण जान पड़ता है। इस शरीरसे कितने ही सुगन्धित इत्र, फुलेल, भोजन वस्त्रादिक पदार्थोंका सम्बन्ध किया जाय, पर वे सब पदार्थ भी इसके संपर्कसे दुर्गन्धित और मलिन हो जाते हैं। यह शरीर सदा नहीं रहता, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। क्षुधादि अनेक वेदनाएँ भी निरंतर सन्ताप उत्पन्न करती रहती हैं। फिर भी यह मोही जीवोंके लिये सदा प्रिय बना हुआ है--वे उसमें अत्यन्त रागी हैं, उसकी पुष्टिसे निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं, और सांसारिक विषय-वासनाके जालमें फँसकर अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। परन्तु ज्ञानी जीव इस शरीरके स्वरूपको जानकर कभी रागी नहीं होते; वे इसे कृतघ्नी दुर्गंधित और नाशवान अनुभव करते हैं, वे उत्तम पदार्थोंके द्वारा इसका उपकार करना अथवा उसे पुष्ट बनाना, जिससे वह अपनी सीमाका अतिरेक कर इन्द्रिय विषयमें प्रवृत्त हो, कभी इष्ट नहीं मानते। प्रत्युत उनकी इच्छा इसके शोषण द्वारा आत्मलाभ करनेकी होती है। वे शरीरको

कष्ट देकर ही इन्द्रिय जयी बनते हैं। और ज्ञान लोकमें विहार करते हुए स्वरूप में मग्न रहते हैं ॥१८॥

यदि यह कहा जाय कि धनादिकसे शरीरका उपकार नहीं होता तो मत हो, किन्तु धनसे तथा अनशनादि तपश्चरणोंसे तो आत्माका उपकार होगा; क्योंकि धनसे धर्मका अनुष्ठान होता है, उससे आत्माका हित भी जरूर होगा, इस कारण धन ग्राह्य है। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥१९॥

अर्थ—जो अनशनादि द्वादश तपोंका अनुष्ठान जीवके पूर्वबद्ध पापोंका क्षय करने वाला है और आगामी पापार्जनके रोकनेमें कारण है अतएव वह जीवका उपकारक है, और वह तपादिका आचरण शरीरका अपकारक है—अहित करनेवाला है। और जो धनादि परिग्रह तथा भोजन वस्त्रादिक क्षुधा तृषा और शीत उष्णादिकी बाधाओंको दूर करनेके कारण देहका उपकारक है। वह धनादि परिग्रहकी पोट पापबंध और दुःखोत्पादक होने से जीवका अपकारक है—दुख देने वाला है।

विशेषार्थ—अनशन एवं अवमोदर्यादिक तपोंके अनुष्ठान-से पापोंका विनाश होता है और उनसे आत्मामें निर्भयता आती है इसलिये तप जीवका तो उपकारक है परन्तु तप आदिके अनु-ष्ठानसे-उपवास करने अथवा भूखसे कम खाने आदिसे तो

शरीर कृश हो जाता है, इन्द्रियोंमें दुर्बलता आ जाती है—वे कमजोर हो जाती हैं। अतएव अनशनादि तपोंके अनुष्ठानसे तो शरीरका अपकार ही होता है। किन्तु भोजनादि पदार्थोंके उपभोगसे शरीर पुष्ट होता है वह सबल और कांतिमान हो जाता है इस कारण भोजनादिक पदार्थ शरीरके उपकारक हैं, परन्तु वे आत्माके उपकारक नहीं है, क्योंकि भोजनादि गरिष्ठ पदार्थोंके सेवनसे प्रमादकी वृद्धि होती है और उससे कर्मोंका आस्रव होता है, आत्म-परिणति मलिन होती है। और आत्मपरिणतिकी मलिनतासे आत्मा दुर्गतियोंका पात्र बनता है। अतएव जो यह कहा गया था कि धनादिकसे कभी आत्माका उपकार नहीं हो सकता। वह प्रायः ठीक ही है, क्योंकि यदि धनादिक आत्माके उपकारी होते तो महापुरुष इनका त्यागकर अकिंचिन दिगम्बर नहीं बनते, और न दूसरोंको उस मार्ग का अनुसरण करनेका उपदेश ही देते। अतः यह स्पष्ट है कि धनादि परिग्रह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता। इसीसे उसे त्याज्य बतलाया है।

इस बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य गुणभद्र आत्मनुशासन में कहते हैं:—

> तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात्।
> इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः॥

ज्ञानी जीव विचार करता है कि जिस तरह अग्निके संयोग से जल गरम हो जाता है और वह सन्तापको उत्पन्न करता है

हो सकता है। इस आशंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः॥२०॥

अर्थ—एक ओर तो अभीष्ट पदार्थोंको प्रदान करने वाला चिन्तामणि रत्न है और दूसरी ओर खलका टुकड़ा है, ध्यानसे जब ये दोनों ही चीजें प्राप्त होती हैं ऐसी स्थितिमें विवेकीजन—लोभके विनाशमें चतुरजन—किसका आदर करें।

भावार्थ—यह ठीक है कि ध्यानसे दोनों बातें सिद्ध होती हैं। परन्तु यदि कोई मनुष्य किसीको एक हाथसे चिन्तामणि रत्न और दूसरे हाथसे खलका टुकड़ा दे और यह कहे कि इन दोनोंमें तुम्हारी जो इच्छा हो सो ले लो। तब विवेकी पुरुष खलके टुकड़ेको छोड़कर चिन्तामणि रत्नको ही लेगा। उसी तरह जो जीव बिना किसी अभिलाषाके धर्म शुक्लरूप उत्तम ध्यानोंका आराधन करता है वह चिन्तामणि रत्नके समान वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है। किन्तु जो जीव आर्त रौद्र रूप अशुभ ध्यानोंका आश्रय करता है उसे खलके टुकड़ेके समान इस लोक सम्बन्धि पराधीन इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होते हैं। अतः शरीरका विनाश न हो इस आशासे जो ध्यान किया जाता है वह निरर्थक है। हां, स्व-स्वरूपकी प्राप्तिके लिये ध्यान का आराधना करना श्रेयस्कर है। तत्त्वानुशासनमें भी कहा है:—

विशेषार्थ—इस पद्यमें आचार्य महोदयने आत्मस्वरूपका विवेचन करते हुए जो विशेषण दिये हैं उनसे आत्माके सम्बन्ध-में होने वाली विविध मान्यताओंका भी निरसन हो जाता है। किन्हींका कहना है कि जो वस्तु किसी न किसी प्रमाणका विषय है उसीका गुणानुवाद करना चाहिये। असिद्ध वस्तुका गुणानु-वाद करना ठीक नहीं है, उनको इस मान्यताका परिहार करनेके लिए आचार्यने 'स्वसंवेदन सुव्यक्तः' विशेषण दिया है। चूँकि आत्मा अमूर्तिक है—वह इन्द्रिय और मनका विषय नहीं है अतः आत्मा किसी प्रमाणका विषय भी नहीं है ऐसा कहा जाता है वह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है 'अहं अस्मि' 'मैं हूँ' इस प्रकार अन्तर्मुख साकाररूपसे जो ज्ञान अथवा अनुभवन होता है उससे आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है और जब आत्माकी सत्ता सिद्ध हो जाती है तब उसे असिद्ध कहना प्रमाण विरुद्ध ठहरता है। स्वानुभव सद्दृष्टिके होता है और वह बाह्याभ्यन्तर जल्पका परित्यागकर एक चैतन्य विज्ञान घन आत्माका साक्षात्कार करता है। उस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका स्वरूप तत्त्वानुशासनके निम्न पद्यमें बतलाया गया है:—

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहु रात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

योगीजनोंका अपने द्वारा ही अपनेका ज्ञेयपना और ज्ञातापना है, उसीका नाम स्व-संवेदन है—योगीजन अन्तर्बाह्य

जल्पों अथवा संकल्प-विकल्पोंका परित्याग कर आत्मस्वरूपका अपने द्वारा अपनेमें ही जो अनुभवन या वेदन करते हैं वह स्व-संवेदन है, उसीको स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

कुछ लोगोंका यह भी सिद्धान्त है कि आत्मा आकाशकी तरह व्यापक है जिस तरह आकाश सर्वत्र विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र मौजूद रहता है उसका कहीं भी अभाव नहीं कहा जा सकता। और किन्हीं लोगोंका यह भी कहना है कि आत्मा बट वृक्षके बीजकी तरह अत्यन्त छोटा है जिस तरह बट-का बीज बहुत छोटा होता है उसी प्रकार आत्मा भी बहुत छोटा पदार्थ है। उनके उक्त सिद्धान्तके परिहारार्थ आचार्यने 'तनुमात्र' विशेषण दिया है, जिससे स्पष्ट है कि आत्मा कर्मोदयसे प्राप्त अपने छोटे बड़े शरीर के प्रमाण है। आत्मा न आकाशकी तरह सर्वत्र व्यापक ही है और न बटके बीजकी तरह छोटा पदार्थ ही है किन्तु वह अपने शरीरके बराबर है। जीव कर्मोदयानुसार जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है उसीके अनुसार उस-के आत्म-प्रदेश भी हीनाधिक हो जाते हैं। यदि वह हाथीका शरीर धारण करता है तो उसके आत्म-प्रदेश भी उस शरीरके प्रमाण विस्तृत हो जाते हैं और यदि वह छोटी चींटीका शरीर धारण करता है तो उसके आत्मप्रदेश उसी शरीर प्रमाण संकुचित भी हो जाते हैं।

चार्वाक् लोगोंका यह सिद्धांत है कि जिस तरह महुआ और

कोदों आदि मादक पदार्थोंके सम्बन्धसे मादकशक्ति पैदा हो जाती है और जो मनुष्य उन्मादक पदार्थोंसे बनी हुई उस शराब को पीता है वह उन्मत्त (पागल) हो जाता है उसी तरह पृथ्वी और जल आदि पंचभूतोंके संयोगसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वही शक्ति आत्मा है। उससे भिन्न कोई आत्मपदार्थ नहीं है और उस शक्तिरूप आत्माकी सत्ता गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही है। मरण होनेपर वह शक्तिरूप आत्मा भी नष्ट हो जाता है। उसके इस सिद्धान्तका परिहार करनेके लिये आचार्यने 'निरत्यः' पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है कि आत्मा द्रव्यरूपसे नित्य है। यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे आत्मा प्रतिक्षण विनाशीक है परन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वह अविनाशी है—विनाशरहित है। वह द्रव्यत्वरूपसे सदा विद्यमान रहता है—आत्मत्वरूपसे उसका कभी विनाश नहीं होता। अतएव पृथ्वी जल आदि पंचभूतोंके संयोगसे उत्पन्नशक्तिरूप आत्मा नहीं बन सकता।

सांख्य और योग लोग 'सुखको आत्माका धर्म नहीं मानते, वह उसे जड़स्वरूप प्रकृतिका धर्म मानते हैं। इस कारण जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती तब तक उसमें प्रकृतिके सम्बन्धसे सुखका भान होता रहता है। और मोक्ष हो जाने पर फिर उस सुखकी सत्ता आत्मामें नहीं रहती, ऐसा उनका सिद्धान्त है। उनकी इस मान्यताका निरसन करनेके लिए आचार्य महोदयने 'अत्यन्त सौख्यवान्' इस पदका प्रयोग किया है। जिससे स्प

है कि सुख गुण प्रकृति आदि जड़पदार्थोंका स्वरूप अथवा धर्म नहीं है वह आत्माका स्वरूप है। यद्यपि कर्म संबंध होनेके कारण संसार अवस्थामें आत्माके उस सुख गुणका पूर्ण विकास नहीं हो पाता; किन्तु जब आत्मा कर्मजालसे छूट जाता है—स्वात्मोपलब्धिको पा लेता है—तब उस गुणका पूर्ण विकास होजाता है।

साँख्य लोगोंका यह भी कहना है कि—'ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा' आत्मा ज्ञानरहित चैतन्यमात्र है। और 'बुद्ध्यादि गुणोज्झितः पुमान्' बुद्धि सुख, दुख, इच्छा आदि नव गुणोंसे रहित पुरुष आत्मा है ऐसा यौग लोगोंका सिद्धांत है। और नैरात्मवादि बौद्ध लोग आत्मा नामका कोई पदार्थ ही नहीं मानते—वह उसका सर्वथा अभाव बतलाते हैं। इन सब सिद्धांतोंका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने 'लोकालोक विलोकिनः' पद का प्रयोग किया है। जिसका स्पष्ट आशय यह कि आत्मा लोक अलोकका ज्ञाता दृष्टा है। यह लोक जीवादि षट्द्रव्योंसे भरा हुआ है और अलोकाकाशसे व्याप्त है। आत्मा इन सबका जानने देखने वाला है। यदि आत्माको ज्ञान शून्य माना जाय तो वह लोक आलोकका ज्ञाता दृष्टा कैसे हो सकता है? अतः ज्ञानरहित केवल चैतन्यमात्र आत्मा नहीं है। और जो लोग आत्माको ज्ञानस्वरूप नहीं मानते उसे बुद्ध्यादि गुणोंसे रहित बतलाते हैं वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्माको ज्ञानस्वरूप न [illegible] वह लोक अलोकका ज्ञाता दृष्टा भी नहीं बन सकता।

ज्ञान रहित माननेसे वह जड़वत् हो जायगा। तथा नैरात्म्यवादी बौद्धोंका आत्माका सर्वथा अभाव बतलाना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्माके अभावमें लोक-अलोकके ज्ञाता दृष्टापनेका सिद्धांत भी नहीं बन सकता। अतः आत्माका सर्वथा अभाव बतलाना अयुक्त है। अस्तु आत्माको ज्ञाता, दृष्टा स्वदेहप्रमाण आदि विशेषणोंसे विशिष्ट मानना ही श्रेयस्कर है।

शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! यदि आत्माका अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है तो फिर उसकी उपासना कैसे करनी चाहिये। इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

संयम्यकरणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

अर्थ—आत्माको चाहिए कि वह इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर एकाग्रचित्तसे अपने ही द्वारा अपनेमें स्थित होकर अपने स्वरूपका ध्यान करें।

भावार्थ—आत्माके जाननेमें अन्य किसी कारणकी आवश्यकता नहीं होती। आत्मा ही शम, दम, समाधि और चित्तकी एकाग्रतासे—अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे—उसका साक्षात् अनुभव करता है। तत्त्वानुशासनमें भी कहा है:—

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम्।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥"

चूंकि आत्मा स्व-पर प्रकाशक है अतः उसके लिए अन्य

कारणान्तरोंकी आवश्यकता नहीं होती। जिस तरह दीपक स्व-पर-प्रकाशक है उसे अपने स्वरूपके प्रकाशनके लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसी तरह स्व-पर प्रकाशी आत्मा के लिए भी अपना भान करनेके लिए अन्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं पड़ती अतएव आत्मज्ञानके लिए अन्य पदार्थकी चिन्ता को छोड़कर अपने ही स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान अथवा अनुभव करना चाहिए। परन्तु स्वानुभवप्रत्यक्षसे आत्माका परिज्ञान उसी समय होगा जब श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे द्रव्य और पर्यायमेंसे किसी एकका आश्रय करनेसे मनकी चंचलता मिटेगी, वह एकाग्र होगा। और चित्तकी एकाग्रता होनेसे इन्द्रियोंका भी दमन हो जायगा। कारण कि यदि मन अस्थिर रहेगा—उसकी एकाग्रता न होगी—तो इन्द्रियां अपने अपने विषयकी ओर द्रुतगति से प्रवृत्त होंगी, तब मनकी विक्षिप्तता होनेसे स्वानुभवको अवसर ही प्राप्त न हो सकेगा। अतः आत्मानुभवके लिए श्रुतज्ञानका आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है:—

'गहियं तं सुयणाणं पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो णहु सुय अवलंवइ सो मुज्झइ अप्प-सब्भावं॥१॥'

'पहले—श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माको जानकर पीछे स्व संवेदन प्रत्यक्षसे उसका अनुभव करना चाहिये। जो पुरुष-श्रुतज्ञानका आश्रय नहीं करता वह आत्मस्वभावको भी नहीं जान सकता—आत्मस्वरूपको पहिचाननेकी उसमें क्षमता नहीं हो

सकती।' समाधितंत्रमें और भी कहा है :—

'प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंद निर्वृतं ॥३२॥'

'पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हो जाने पर परम आनन्दकी अनुपम छटासे परिपूर्ण सम्यग्ज्ञान स्वरूप मुझको मैं ही अपनेमें अपने द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। अतएव ऊपर जो यह कहा गया था कि आत्माकी उपासना कैसे होती है? यह ऊपरके स्पष्ट विवेचनसे स्वतः सिद्ध हो जाता है। मनकी चंचलता रुककर जब वह स्थिर हो जाता है और इन इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं होती; शम, दम और समाधिसे बाह्य व्यापारसे उन्मुक्त होकर स्व-स्वरूपमें निमग्न हो जाता है। तब स्वानुभव प्रत्यक्षसे आत्माकी उपासना होती है ॥२२॥'

शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! आत्माकी उपासना क्या है, और उससे किस प्रकार प्रयोजनकी सिद्धि होगी? क्योंकि विद्वानोंकी प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजनके नहीं होती, इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

अर्थ—अज्ञानकी उपासनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानीकी उपासना करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है; क्योंकि

संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो चीज
वह उसको देता है ॥२३॥

भावार्थ---संसारमें यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके
वस्तु होती है वह उसको दूसरेको दे सकता है। धनीको
धन और विद्वानकी सेवासे विद्या प्राप्त होती है। और
स्वरूप देहादि परपदार्थ तथा अज्ञानी गुरुओंकी उपा
अज्ञानकी प्राप्ति होती है। और ज्ञानस्वरूप आत्माकी उपा
सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अतएव जो पुरुष अपना क
करना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि जिनमें स्व-परका
जाग्रत है, तथा जो सांसारिक प्रलोभनोंसे दूर रहते हैं ज्ञान-
और तपमें सावधान हैं, वस्तु स्थितिके ज्ञायक हैं, परपदा
विषम परणतिसे जिनका राग-द्वेष नष्ट हो गया है, जो
समानदृष्टिसे देखते हैं। ऐसे विवेकी परम तपस्वी ज्ञानी आ
की उपासना, पूजा अथवा उनके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे ज्ञा
प्राप्ति होती है। कहा भी है:—

'ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरं ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥'

'ज्ञानकी उपासनासे श्लाघनीय अविनाशी सम्यग्ज्ञान
फलकी प्राप्ति होती है। यद्यपि ज्ञान प्राप्तिके लिये ज्ञानी
उपासना की जाती है परन्तु उस उपासनामें मोहकी पुट रहती
यदि उसमें मोहका अंश न रहे तो फिर उपासनामें प्रवृत्ति

नहीं हो सकती। ज्ञानीके आत्मगुणोंमें जो अनुराग है वही उसकी उपासना, पूजा अथवा भक्तिमें कारण है, परन्तु ऐसा मोह प्रायः समादरणीय माना गया है। यद्यपि धनादि परद्रव्यकी उपासना में भी मोह कारण है; किन्तु वह मोह जहाँ संसारका कारण है वहाँ ज्ञानकी उपासनाका मोह मुमुक्षुके लिये कर्मबन्धनसे उन्मुक्त होने अथवा छूटनेमें कारण है। इसीलिए उसे प्रशस्त एवं उपादेय कहा गया है और धनादि परद्रव्योंकी प्राप्तिकी वाँछारूप स्नेह अप्रशस्त बतलाया है अतएव वह हेय है। यद्यपि ज्ञानी—स्व-पर-विवेकी अन्तरात्मा—निर्वांछक है—सांसारिक भोगादिकसे उदासीन है—उनमें उसका थोड़ा भी रागभाव नहीं है। फिर भी सम्यग्ज्ञान प्राप्तिकी अभिलाषारूप जो कि किंचित् रागांश विद्यमान है, उसे भी वह उपादेय नहीं मानता है। यह ठीक है कि वह चारित्रमोहवश उसका परित्याग करनेमें उस समय सर्वथा असमर्थ है, फिर भी वह अपने स्वरस साधनमें सदा जागरुक रहता है अतः आत्महितेच्छुको चाहिए कि वह स्व-पर विवेकी आत्माकी अवश्य उपासना करे। शुद्धात्माकी उपासनासे आत्मा अपनी स्वात्मस्थितिको—निजानन्दरूप आत्मस्वभावको—पा लेता है जो उसका अन्तिम लक्ष्य है ॥२३॥

शिष्य पुनः पूछता है कि हे मुने! जो ज्ञानी निष्पन्न योगी आत्मस्वरूपमें लीन है उसे आत्मध्यानसे क्या फल होता है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

समाधितन्त्रमें और भी कहा है—

> "आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
> तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥"

'आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे समुत्पन्न आल्हादरूप आत्मानन्दका जिसने अनुभव कर लिया है ऐसा योगी अनेक दुःखोंको भोगता हुआ भी तपसे खिन्न नहीं होता—उपसर्ग परीषहादिके आजाने पर उनके भयसे तपका परित्याग नहीं करता, किन्तु वह तपश्चरण करनेमें और भी दृढ़ तथा सावधान हो जाता है। उस समय उसका उपयोग केवल आत्म तत्त्व पर ही रहता है बाह्य पदार्थों पर दृष्टि नहीं होती। वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्वक आत्मस्वरूपका चिन्तन करता है। उस समय उसकी आत्मा ध्येय और ध्यानके सिवाय अन्य सब पदार्थोंके संकल्प विकल्पोंसे शून्य होती है—बाह्य पदार्थोंका उसकी आत्मासे कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता। परीषहादिक कर्मोदयके विकार हैं। इनके समुपस्थित होने पर इनकी पीड़ा उसके चित्तकी दृढ़ताको आत्मानन्दसे हटानेमें समर्थ नहीं होती—परीषहादि उपसर्ग अपना फल देकर अथवा बिना किसी फल दिये ही दूर हो जाते हैं। वह योगी तो आत्मस्थ ही रहता है। उस आत्मस्थ योगीके ध्यानकी निश्चलतासे जो अग्नि उत्पन्न होती है उससे घाति चतुष्टयरूप कर्म—आत्मगुणोंके आच्छादक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय रूप चार कर्म—भस्म हो जाते हैं और योगी आवरण

हटते ही पूर्ण ज्ञानी बन जाता है वह उस समय त्रयोदश गुण-स्थानवर्ती सयोगी जिन कहलाता है। तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यरूप चार आत्मगुणोंसे सुशोभित होता है। और निराकुल अनुपम अनंत सुखका अनुभव करता हुआ अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्वाक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है उतने समय चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन रह कर सदाके लिये आत्मोत्थ सुखका भोक्ता हो जाता है। परमागममें कहा भी है :—

"सीलेसिं संपत्तो णिरुद्ध णिस्सेस आसवो जीवो।
कम्म-रय-विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि* ॥"

'जिस समय यह आत्मा शैलेशी हो जाता है—अठारह हजार शीलके भेदोंके स्वामीपनेको प्राप्त कर लेता है अथवा मेरूके समान निष्कंप एवं निश्चल अवस्थाको पा लेता है। उस समय उसके सम्पूर्ण शुभाशुभ-कर्मोंके आस्रवका निरोध हो जाता है, जो नूतन बंधनेवाली कर्म-रजसे रहित है और जो मन वचन कायरूप योगसे रहित होता हुआ दिव्य केवलज्ञानसे विभूषित है वह अयोगकेवली परमात्मा कहलाता है ॥२४॥'

अब ग्रन्थकार ध्यान और ध्येय अवस्थामें आत्माके संयोगादि रूप सम्बन्धका अभाव बतलाते हुए कहते हैं :—

---

* धवला १, १, २२, पंचसंग्रह १-५६, गो.जो. ६५।

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बंधः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बंधः कीदृशस्तदा ॥२५॥

अर्थ—चटाई और चटाईका बनाने वाला यह दोनों ही आपसमें भिन्न-भिन्न हैं अतएव इन दोनोंका आपसमें संयोग आदि सम्बन्ध बन सकता है। और उस सम्बन्धके अभाव होने पर फिर वे अलग-अलग हो जाते हैं; परन्तु जब ध्यान और ध्येय स्वरूप केवल एक आत्मा ही है आत्मासे भिन्न ध्यानादि कोई पदार्थ नहीं है, तब उनका संयोगादि सम्बन्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि संयोगादि सम्बन्ध भिन्न भिन्न दो वस्तुओंमें होता है। ध्यान और ध्येयरूप अवस्था आत्मासे अभिन्न है उसका परद्रव्यसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है तब उसका संयोगादि सम्बन्ध बन सकना कैसे सम्भव हो सकता है?

भावार्थ—'ध्यायते येन तद्ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा' इस निरुक्तिमें जिसका ध्यान किया जाता है वह पदार्थ और जो ध्यान करता है वह पदार्थ दोनों एक ही हैं। जिस समय इस आत्माका ध्यान अवस्थामें परमात्मरूप स्वकीय स्वरूपके साथ एकीकरण हो जाता है तब ध्यान और ध्येयमें अभेद या अभिन्नता रहती है उस समय चैतन्यरूप आत्मपिण्डके सिवाय अन्य किसी पर द्रव्यका अभाव होनेसे संयोगादिरूप कोई सम्बन्ध नहीं बनता। किन्तु उस अवस्थामें कर्म आदिका जो भी संयोग सम्बन्ध रहता है वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिए जब यह

बात सुनिश्चित है कि ध्यान और ध्येय अवस्थामें अन्य कोई संयोगादिरूप सम्बन्ध नहीं बन सकता, तब उस ध्यानावस्थामें योगीको परीषहादि परद्रव्यके विकार खेद या कष्टोत्पादक नहीं हो सकते; क्योंकि पर-द्रव्योंके विकार उसी समय तक खेद-जनक होते हैं जब तक उनमें आत्म-कल्पना रूप रागका सद्भाव पाया जाता है। और जब खेदादिक कल्पनाका कारण राग भावका अभाव हो जाता है तब योगी अपने स्वरूपमें ही अव-स्थित रहता है ॥२५॥

यहाँ शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! यदि आत्मा और द्रव्यकर्मका वियोग अथवा भेद आत्मध्यानसे होता है तब कर्म-का परस्पर प्रदेशानुप्रवेशलक्षणरूप बन्ध अथवा संयोग कैसे होता है? क्योंकि बंध पूर्वक ही मोक्ष होता है। अतः सर्व कर्मसे रहित अवस्था रूप मोक्ष भी बंधके वियोग अथवा अभाव पूर्वक ही होता है और मोक्ष ही सदा सुखका कारण होनेसे योगी-जनोंके द्वारा अभिवांछनीय है। तब संयोग और भेदका क्या कारण है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:-

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्* ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

अर्थ--जीव ममत्वपरिणामसे--स्त्री, पुत्र, मित्र, धन,

* परदव्वरओ वज्झदि विरओ मुच्चेइ विविह-कम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बन्ध-मुक्खस्स ॥१३॥ मो०पा०

धान्यादि परद्रव्योंमें ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार विचाररूप ममकार परिणामसे—कर्मसे बंधता है। और ममताके अभावसे कर्मसे बंधनसे छूटता है। अतएव विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे जिस तरह बनें उस तरहसे केवल निर्ममत्वपनेका ही चिन्तवन करें।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, रुपया, पैसा, राज्य-विभूति, गाय, भैंस, मोटर, घोड़ा, गाड़ी आदि पर पदार्थ मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकारके मोहरूप अध्यवसानभावसे मूढ इस जीवके जब परिणाम ममकार और अहंकाररूप विभाव परिणामोंसे परिणित हो जाते हैं तब कषाय और राग-द्वेष रूप परिणतिसे शुभाशुभ-कर्मोंका बन्ध होने लगता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र 'नाटक समयसार' में कहते हैं—

"न कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म वा।
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधोबंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्॥"

'जीवके जो शुभाशुभकर्मोंका बन्ध होता है उसमें कार्माण जातिकी वर्गणाओंसे भरा हुआ यह लोक कारण नहीं है और न चलन स्वरूप कर्म कारण है, न अनेक इन्द्रियाँ कारण हैं और न चेतन अचेतन पदार्थोंका बन्ध कारण हैं; परन्तु जिस समय जीवका उपयोग राग-द्वेषादिके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है—

पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट-कल्पनारूप रागद्वेपकी सत्ता आत्मामें अपना स्थान जमा लेती है और उपयोग विभाव-भावोंसे विकृत एवं तन्मय हो जाता है, उस समय राग-द्वेष परिणामरूप यह अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है।'

यह पदार्थ मेरा है और यह दूसरेका है,इसका मैं स्वामी हूँ और इसका स्वामी मैं नहीं हूँ जिस समय इस प्रकार के रागद्वेष रूप परिणाम हो जाते हैं उस समय आत्मा शुभ-अशुभरूप कर्मों से बँधता रहता है। किन्तु जिस समय आत्माका स्त्री पुत्रादि परपदार्थों में यह पदार्थ मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ यह कल्पना नहीं होती। इस तरहके निर्मम परिणामकी किरणें जब हृदयमें उद्दीपित हो जाती हैं उस समय आत्मामें शुभा-शुभ-कर्मों-का बंध नहीं होता। यही आशय समाधितन्त्रग्रन्थके निम्न पद्यमें व्यक्त किया गया है--

'अकिंचनोऽहमित्यात्र त्रैलोक्याधिपतिर्भवे, ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥'

जिस समय आत्मामें यह भावना निश्चल एवं स्थिर हो जाती है कि मैं अकिंचन हूँ --स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि पदार्थ जो संसारमें दिखाई दे रहे हैं—वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ। किंतु एक चैतन्यमात्र टंकोत्कीर्ण ज्ञायकरूप हूँ। उस समय आत्मा तीन लोकका अधिपति हो जाता है, परन्तु इस प्रकार परमात्मपनेका अथवा परम-पद्प्राप्तिका यह रहस्य योगियोंके

द्वारा ही गम्य है क्योंकि अकिंचनरूप निर्मलभावनाके बिना योगी उस पदको पानेमें समर्थ नहीं है। और भी कहा है--

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः' ॥

जो पुरुष रागी है--चैतन्यमात्र आत्मासे भिन्न परपदार्थोंमें आत्मत्वकी कल्पना करता हुआ उनके शुभाशुभ परिणमनमें रागी द्वेषी होता है। वह कर्मोंसे बंधता है। परन्तु जो वीतरागी है--परको पर और निजको निज मानकर उनके अच्छे बुरे परिणमनसे रागी-द्वेषी नहीं होता और न उनमें दुःख सुखकी कल्पना ही करता है किन्तु उन में आत्म-कल्पना करना दुःखका मूल कारण समझता है और उनकी विरुद्ध परिणतिसे असन्तुष्ट नहीं होता--समभावी रहता है, वही कर्मोंसे नहीं बंधता किन्तु परमात्मा बन जाता है। यह संक्षेपमें बन्ध-मोक्षका वर्णन जिनेन्द्र भगवानके उपदेशानुसार है।

इस प्रकारके अनुपम आनन्दको प्रदान करने वाली निर्भयत्व भावनाके चिन्तवनका उपाय क्या है ? इसे प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं--

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः *।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

---

* एगो मे सस्सदो आदा णाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा ॥

अर्थ—मैं एक निर्मम (ममता रहित) हूँ—यह परद्रव्य मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ इस मिथ्या अभिप्रायसे रहित हूँ—शुद्ध हूँ—शुद्धनयकी अपेक्षासे द्रव्य और भावकर्मसे रहित हूँ—ज्ञानी हूँ—स्व-परके भेद-विज्ञानरूप विवेक ज्योतिसे प्रकाशमान हूँ—ज्ञानी योगीन्द्रोंके ज्ञानका विषय हूँ—अनन्त पर्यायोंको युगपत् विषय करने वाले पूर्ण ज्ञानी केवली और श्रुतकेवलीके शुद्धोपयोगरूप ज्ञानका विषय है। इनके सिवाय, संयोगलक्षणवाले स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, दासी, दास शरीर और अन्य वैभवादिक बाह्य पदार्थ मेरी आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं—वे तीन कालमें भी मेरे नहीं हो सकते।

भावार्थ—यद्यपि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे आत्मा अनेक रूप है, क्योंकि कर्मोदयसे जीवको अनेक पर्यायोंमें जन्म मरण करना पड़ता है। परन्तु द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मैं अकेला हूँ, निर्मल हूँ—पर-पदार्थोंके स्वामित्वसे रहित हूँ—और शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे द्रव्य और भावकर्मरूप बंधनोंसे सर्वथा भिन्न होनेसे शुद्ध हूँ। और स्व-पर-प्रकाशकरूप ज्ञानका धारक ज्ञानी हूँ। पूर्ण ज्ञानियों और श्रुतकेवलियोंके ज्ञानका विषय हूँ—उनके द्वारा जाना जाता हूँ। अनादि कालसे कर्मके बंधसे होनेवाले शरीरादि पर पदार्थ मेरे चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं, कर्मो-दयके विकार हैं। और मैं शुद्ध चैतन्यका धारक ज्ञानानन्द हूँ, अखंड हूँ, कर्मादि उपाधियोंसे रहित मेरा शुद्ध स्वरूप ही मेरे

द्वारा उपादेय है। तथा संयोग लक्षण वाले वे जड़ पदार्थ जब मेरेसे भिन्न हैं---वर्णादि विकारको लिए हुए हैं, तब मेरे कैसे हो सकते हैं? उनसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारकी विमल भावनासे ही निर्ममत्वकी प्राप्ति होती है।

'शरीरादिके सम्बन्धसे जीवको क्या दुख भोगने पड़ते हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनां।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥

अर्थ—जीवोंको इस संसारमें शरीरादिकके संयोग सम्बन्धसे जन्म, मरण, शारीरिक और मानसिक आदि अनेक कष्ट सहना पड़ता है। इस कारण मैं उन सभी संयोग सम्बन्धोंका मन वचन और काय रूप कर्मसे परित्याग करता हूँ—छोड़ता हूँ।

भावार्थ—आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे सुखकी प्राप्ति होती है। और इनकी अभेद भावनासे—शरीरादिक परपदार्थोंमें आत्मकल्पना करनेसे—शारीरिक, मानसिक और क्षेत्रादि जन्य अनेक कष्ट भोगना पड़ता है, क्योंकि मन वचन और कायरूप योगोंकी चंचलतासे और मनोवर्गणाके अवलम्बनसे आत्माके प्रदेश सकंप (चंचल) होते हैं, और उनसे राग-द्वेषादिरूप विभाव परिणामोंकी सृष्टि होनेसे आत्माका परिणमन मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद व कषायादि विभाव परिणाम रूप होता है

जिससे कर्म-पुद्गलोंका आत्म-प्रदेशोंके साथ संश्लेष परिणामात्मक बंध होता है और फिर उससे सुख दुःखादि इष्ट-अनिष्ट फलोंकी उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि होती है इस तरह संसारकी दुःख परम्परा बढ़ती है। अतएव मन वचन कायकी क्रियासे इन्हें अपना न मानना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है:—

"स्वबुद्धया यत्तु गृह्णीयात् काय-वाक्चेतसां त्रयं।
संसारस्तावदेतेषां तदाभ्यासेन निवृतिः ॥"

जब तक इस जीवकी मन वचन कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें अपने आत्माके ही अङ्ग अथवा अंश समझा जाता है—तब तक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता ही रहता है किन्तु जब उसकी यह भ्रमबुद्धि दूर हो जाती है वह शरीर और वचनादिकको आत्मासे भिन्न अनुभव करने लगता है और उस अभ्यासमें परिपक्व अथवा दृढ़ हो जाता है तभी वह संसार-बंधनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है। अतएव शरीरादिकको कभी अपना नहीं मानना चाहिये ॥२८॥

आत्माका अनादिकालसे शरीरादि पुद्गलद्रव्योंसे संयोग सम्बन्ध बना हुआ है उसीके कारण जन्म-मरण और रागादिक अनेक दुःख एवं कष्ट उठाना पड़ते हैं। ये दुःख किस भावनासे दूर होंगे ? इस आशंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

इसी बातको आचार्य महोदय और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू लोकके समान अज्ञ अथवा मूढ़ बन कर दृश्यमान (दीखने वाले) शरीरादि पर पदार्थोंका उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अज्ञान है । अब तू परके उपकारकी इच्छा न कर अपने ही उपकारमें लीन हो ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मूढ़ प्राणी अज्ञानसे शत्रुको मित्र समझकर रात दिन उसकी भलाईमें लगा रहता है, उसका हित करते हुये भी वह अपने अहित होने अथवा हानि हो जानेका कोई ध्यान नहीं रखता, प्रत्युत उसके हित साधनमें ही अपना सर्वस्व लगा देता है; परन्तु जिस समय उसे इस बातका परिज्ञान हो जाता है कि यह मित्र नहीं, किन्तु मेरा शत्रु है तभीसे वह उसका उपकार करना छोड़ देता है और फिर अपने ही हितमें सावधान हो जाता है । उसी प्रकार हे आत्मन् ! अज्ञान अवस्थामें तेरे चिदानन्द स्वभावसे सर्वथा भिन्न शरीरादि पर पदार्थोंके संयोग होने पर तू रात दिन उनके पालन पोषणमें सदा सावधान रहा है और उन्हें अपना समझते हुए उनके संरक्षणादि कार्योंमें अनेक आपदाओं (कष्टों) का भी ध्यान

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्ष-सौख्यं निरंतरम् ॥३३॥

अर्थ—जो कोई प्राणी आरम्भ और द्विविध परिग्रह रहित तपस्वी सुगुरुके उपदेशसे और उपदेशानुसार शास्त्राभ्यासरूप भावनासे—स्वात्मानुभवसे—स्व-परके भेदको जानता है वही पुरुष सदा मोक्ष सुखको जानता है।

भावार्थ—यह स्व है और यह पर है इस प्रकार भेद विज्ञान सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय विशिष्ट उभय परिग्रह और आरम्भ विहीन निर्ग्रन्थ दिगम्बर तपस्वी सुगुरूके उपदेश तथा शास्त्राभ्यास एवं स्व-परके लक्षणोंके परिज्ञानसे होता है, यह चैतन्य-स्वरूप मेरा है। और उससे भिन्न यह जड़ पदार्थ पर हैं वे मेरे कभी नहीं हो सकते। जब तक इस तरहका भेद विज्ञान नहीं

होता, तब तक स्व-परका भेद विज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकारके भेदविज्ञानमें शास्त्राभ्यास प्रधान कारण है, शास्त्राभ्याससे स्व-परके लक्षणोंकी पहिचान होती है और भेद-ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव सुगुरुके वचनानुसार शास्त्राभ्याससे जिनकी अज्ञानदृष्टि मिट गई है और स्व-परका विवेक जाग्रत हो गया है वे पुरुष ही मोक्षस्वरूपके जाननेके अधिकारी हैं, क्योंकि बंध रहित निराकुल स्वात्म-अवस्थाकी प्राप्ति सद्ध्यानसे ही होती है। तत्त्वानुशासनमें कहा भी है—

"तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरम् ॥१७०॥

'उस कर्म विमुक्त आत्माके ध्यानसे परम एकाग्रताकी प्राप्ति होती है और वचन अगोचर (वचनातीत) जो कोई आत्माधीन आनन्द है वह भी उसे प्राप्त हो जाता है इसलिए मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाले पुरुषको अवश्य ही स्व-परका विवेक प्राप्त करना चाहिये ॥२३॥

अब शिष्य पुनः गुरुसे पूछता है कि हे भगवन्! मोक्ष सुखका निर्दोषरूपसे अनुभव करने वाला गुरु कौन है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

अर्थ—वास्तवमें आत्माका गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही अपनेमें मुझे 'मोक्ष सुख मिले' इस अभिलाषासे सदा मोक्ष सुख की अभिलाषा करता है। और अपनेमें ही 'मुझे अभीष्ट मोक्ष सुखका ज्ञान करना चाहिये' इस रूपसे मोक्ष सुखका बोध करता है और वह मोक्ष सुखही परम हितकर है इस कारण वह उसकी प्राप्तिमें अपनेको लगाता है।

भावार्थ—जो आत्मा को हितकर उपदेश देता है अथवा अज्ञानभावको दूर करता है वही उसका वास्तवमें गुरू है। यद्यपि इस प्रकार आचार्य उपाध्याय आदिक भी गुरू हो सकते हैं; क्योंकि वे भी जीवोंके अज्ञानादि दोषोंको दूर करने में निमित्त हैं। इस कारण वे व्यवहारमें गुरू हैं परन्तु वे उस आत्माको उस रूप परिणमा नहीं सकते ? अतएव आत्माका वास्तविक गुरू तो आत्मा ही है,क्योंकि 'मुझे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय' इस प्रकारकी प्रशस्त भावना आत्मामें ही होती है, और वही यह समझता है कि संसार में परमार्थसे मेरा अभीष्ट पदार्थ तो मोक्ष सुख ही है। इस कारण उसकी प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिये। इसीलिये वह आत्म-निन्दा,गर्हा, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना आदि कार्योंके द्वारा अपनेको सदा सावधान रखनेका प्रयत्न करता है और सावद्य-क्रियाओंसे उसे हटाकर सांसारिक विषय-सुखोंसे उसे परान्मुख करनेका बार बार प्रयत्न करता है। और कल्याणकारी आत्म-

सुखकी प्राप्तिमें अपनेको सदा लगाता है। इस कारण आत्माका गुरू आत्मा ही है। आत्मा यदि चाहे तो अपनेको संसारी बनाये रक्खे अथवा मोक्षसुखमें ले जावे। दूसरा कोई आत्म-स्वभावका कर्त्ता धर्ता नहीं है। वह स्वयं ही अपने शुभ अशुभ और शुद्ध भावोंका कर्ता है जब आत्मा शुभ-अशुभ-रूप बंधक भावोंका परित्याग कर शुद्धस्वरूपमें विचरण करने लगता है तब शीघ्र ही कर्म बंधण रूप शृंखलाको तोड़कर स्वयं कर्मोंसे उन्मुक्त हो जाता है। जिस तरह नलिनी (तोता पकड़ने के लिये बनाया गया काठका एक यंत्र विशेष) पर बैठा हुआ तोता उस नलिनीको पकड़कर यह भ्रमसे समझे हुए है कि इस नलिनीने मुझे पकड़ रक्खा है किन्तु ज्योंही उसे यह भान हो जाता है कि मुझे नलिनी ने नहीं पकड़ा है किन्तु मैं ही उसे स्वयं पकड़े हुए हूँ और अपने गति स्वभावको भूल रहा हूँ। जब चाहूँ उसे छोड़कर आकाशमें स्वेच्छासे उड़ सकता हूँ। इस विवेकके जाग्रत होते ही वह नलिनीके बंधनसे छूट कर उड़ जाता है। उसी तरह इस अज्ञ प्राणीने मोह अज्ञान और असंयमसे संसार बन्धनको बढ़ाया है। उस बंध परम्पराको बढ़ाने वाला यह आत्मा ही है और आत्म-साधनादि कठोर तपश्चरण द्वारा उससे स्वयं ही छूट सकता है अन्य कोई उसे बांधने या छुटाने वाला नहीं है, इस आत्म-विवेकके जाग्रत होते ही अपने पुरुषार्थ द्वारा सुदृढ़ कर्मबन्धनसे शीघ्र छूट कर अपनी अक्षय अनंतसुखरूप

सम्पतिका स्वामी हो जाता है और अनंतकाल तक परम अतीन्द्रिय आत्मानन्द का भोक्ता हो जाता है।

अब पुनः शिष्य पूछता है कि यदि आत्माका गुरू आत्मा ही है अन्य नहीं तब शास्त्रोंमें जो यह उपदेश है कि मुमुक्षुके लिये धर्माचार्य आदिकी सेवा करनी चाहिये तब इस सिद्धान्तकी हानि हो जायगी? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं:-

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष अज्ञानी है—तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य है, अभव्य है, वह गुरू आदि परके निमित्तसे विशेष ज्ञानी नहीं हो सकता, किन्तु जो विशेष ज्ञानी है—विवेकी है—तत्त्वज्ञान समुत्पादनकी योग्यतासे सम्पन्न है—वह अज्ञानी नहीं हो सकता। अतएव जिस तरह धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोंके गमनमें उदासीन निमित्त कारण है उसी प्रकार अन्य मनुष्यके ज्ञानी अज्ञानी करनेमें गुरु आदि भी निमित्त कारण हैं।

भावार्थ—पदार्थमें जो शक्ति है उसके परिणमन स्वरूप ही कार्य निष्पन्न होता है। अन्य पदार्थ तो उसके परिणमन मात्रमें सहकारी निमित्त हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थकी उपादानशक्ति ही कार्य रूप परिणमन करती है। जीव और पुद्गल द्रव्यमें गमन करनेकी स्वयं शक्ति है अतएव वे जिस समय गमन करते हैं उस समय धर्म द्रव्य उनके गमनमें, सहकारी निमित्त हो जाता है

परन्तु यदि उनमें स्वयं गमन शक्ति न हो तो धर्मद्रव्य सरीखे सैंकड़ों कारण भी उन्हें नहीं चला सकते । उसी प्रकार यदि आत्मामें तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी स्वावरणक्षयोशमरूप योग्यता नहीं है अर्थात् वह तत्त्वज्ञानके अयोग्य है, अभव्यत्वादिगुण विशिष्ट है तो सैंकड़ों धर्माचार्योंका उपदेश मिलने पर भी वह ज्ञानी नहीं हो सकता । कहा भी है:—

'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रिया गुणमपेक्षते ।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥

'किसी पदार्थकी अवस्थाके पलट देनेमें उसकी स्वाभाविक क्रिया और गुणकी आवश्यकता होती है । सैंकड़ों प्रयत्न करने पर भी बगुला, तोतेके समान नहीं पढ़ाया जा सकता ।' उसी प्रकार जब अज्ञानीमें तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेकी अयोग्यता है तब ज्ञानी उपदेशकोंके उपदेश मिलने पर भी वह ज्ञानी नहीं बनाया जासकता । किन्तु जो पुरुष ज्ञानी है—तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की योग्यताको लिये हुए है उसमें तत्त्वज्ञानकी योग्यताका लोप करने या रहित करनेके लिये सैंकड़ों प्रयत्न क्यों न किये जांय वह अपने तत्वज्ञानसे शून्य नहीं हो सकता । किसी कविने ठीक कहा है :—

"वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके,
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात् ।
बोध-प्रदीपहत-मोह महांधकाराः,
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥"

'जो योगीगण सम्यग्ज्ञानरूपी दीपकसे मोहरूपी महान् अन्धकारका विनाश करने वाले हैं; सम्यग्दृष्टि हैं और प्रशांत स्वभावी हैं वे योगीगण जिसके भयंकर शब्दसे पथिकोंने अपना मार्ग छोड़ दिया है और समस्त लोक भयसे कांप रहा है ऐसे वज्रके गिरने पर भी परम समाधिरूप योगसे चलायमान नहीं होते, किन्तु सुदृढ़ मेरुवत् स्थिर रहते हैं तो फिर वे अन्य दंश मशकादि कठोर परीषहोंसे कैसे चलायमान हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते ।'

ऊपरके इस सब कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी और अज्ञानी बननेकी सामर्थ्य अपने आत्मामें ही है। गुरू आदि तो बाह्यनिमित्त कारण हैं वे जबर्दस्ती किसीको ज्ञानी तथा अज्ञानी बनानेकी सामर्थ्य ही नहीं रखते; किन्तु यह बात सच है कि बिना निमित्त कारणके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, और कार्य अन्तर बाह्यरूप उभय कारणोंसे सम्पन्न होता है। इसलिये ज्ञान प्राप्तिमें निमित्तभूत गुरुओंकी सेवा शुश्रूषा करना शिष्योंका परम कर्त्तव्य है, उनके गुणोंके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी आवश्यक है और अपनी आत्माको ही अपना गुरू समझते हुए अपने पुरुषार्थ और आत्मकर्त्तव्यका सदा ध्यान रखना चाहिए।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे विज्ञ ! आत्मस्वरूपके अभ्यासका उपाय क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर प्रदान करते हुए आचार्य कहते हैं :--

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥

अर्थ—जिसके चित्तमें किसी प्रकारका विक्षेप—राग-द्वेषादि विकार परिणतिरूप क्षोभ—नहीं है और जिसकी बुद्धि एकान्तमें बैठकर हेय उपादेयरूप पदार्थों के विचार में संस्थित अथवा स्थिर होती है ऐसे योगीको चाहिए कि वह आलस्य और निद्रा आदिके परित्याग पूर्वक अपने चिदानन्द स्वरूपका बार बार अभ्यास करे।

भावार्थ—चित्तकी विक्षिप्तता आकुलताकी जनक है, जब तक चित्तमें किसी प्रकारका-राग-द्वेषादि रूप क्षोभ बना रहेगा तब तक चित्तकी व्याकुलताके कारण आत्मस्वरूपका ध्यान नहीं हो सकता, इसलिए सबसे पहले योगीको अपना चित्त शांत अथवा मोह-क्षोभ रहित रखना चाहिए। चित्तकी विक्षिप्तताका निरोध एकान्त वाससे हो सकता है अतएव योगीको जन समूह वाले कोलाहल जनक स्थानोंको छोड़कर एकान्तमें ही रहनेका अभ्यास करना चाहिए। साथ ही जब तक हेय और उपादेयरूप पदार्थोंका परिज्ञान अथवा विवेक नहीं होगा तब तक आत्माके स्वरूपका अभ्यास कैसे बन सकता? अतएव स्व-परके विवेकको रखना भी आत्मस्वरूपके अभ्यासी योगीके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! स्व-पर विवेकरूप संवित्ति योगीके है यह बात कैसे जानी जा सकती है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

अर्थ - संवित्ति—स्व-पर पदार्थोंके भेदज्ञानसे जैसा जैसा आत्माका स्वरूप विकसित होता जाता है वैसे वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पंचेन्द्रिय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते जाते हैं—उनसे घृणा, अरुचि एवं उदासीनता होती जाती है।

भावार्थ——जब तक आत्मस्वरूपका यथार्थ भान नहीं होता, तब तक ही उसे पंचेन्द्रियोंके विषय प्रिय मालूम होते हैं और उनमें रति करता हुआ आत्मा अपनेको सुखी अनुभव करता है, परन्तु जिस समय उसे अपने निजानन्द चैतन्य स्वरूपका भान हो जाता है तब उन विषय-सुखोंसे उसकी स्वयमेव विरक्तता एवं अरुचि हो जाती है। और वह उनका परित्याग कर देता है। लोकमें यह प्रवाद है कि अधिक सुखके कारण मिलने पर अल्प-सुखके कारणोंमें अनादर हो जाता है। योगियोंको यह भली भांति विदित है कि विषयभोग सांसारिक पराधीन अल्प सुख (सुखाभास) के कारण हैं और आत्मस्वरूपका चिन्तन निराकुलता रूप आत्मसुखका जनक है इसी कारण वे देह भोगोंसे विरक्त हो एकान्तवासी बन स्व-परके विवेकरूप चिन्तनमें ही उपयोगको लगाते हैं उनकी भोगोंके प्रति क्या आस्था होती यह निम्न पद्यसे स्पष्ट है:—

'शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगारा' ॥१॥

'जिस प्रकार शुष्क भूमि (सूखी जमीन) भी जब मछलियों के लिए प्राण घातक है तब अग्निकी तो बात ही क्या है—अग्निकी गर्मीसे मछलियां जरूर मृत्युको प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार जिनका चित्त समतारूपी सुख से सम्पन्न है—परिपूर्ण है—वे जब शरीर स्थितिके कारण आहार आदिका महीनों एव वर्षोंके लिए परित्याग कर देते हैं तब कामभोगोंको वे कैसे उपादेय मान सकते हैं? वे कामादि विकारोंको सर्वथा हेय समझते हैं इसीलिए उनकी उनमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। योगी चूंकि आत्मस्वरूपके परिज्ञानी हैं। इस कारण इनकी विषयों में अरुचि होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार रोगसे पीड़ित रोगी, रोगका इलाज करता हुआ उस समय भी वह उस रोगको नहीं चाहता, तब आगे रोगकी इच्छा कौन करेगा? उसी तरह सम्यग्ज्ञानी जीव चारित्र मोहनीय कर्मके उदय से पीड़ित हुआ कर्मजन्य क्रियाको करता है; परन्तु वह उस क्रियासे उदासीन रहता है—रागी नहीं होता। तब भोगोंकी उसके अभिलाषा होती है यह कैसे कहा जा सकता है ॥३७॥

इन्द्रिय-विषयोंकी विरक्ति ही आत्मस्वरूपकी साधक है, विषयोंसे घृणा एवं अरुचि ही योगीकी आत्म-संवित्तिकी गमक है, उसके अभावमें विषय अरुचि ही नहीं बन सकती। विषयोंसे

अरुचि बढ़ने पर स्वात्मानुभव में भी वृद्धि हो जाती है और स्वात्म-संवित्तिसे स्व-परके भेद ज्ञानमें वृद्धि हो जाता है इसी बातको ग्रन्थकार महोदय स्पष्ट करते हुए कहते हैं:--

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

अर्थ--जैसे-जैसे सहज प्राप्त इंद्रिय-भोगोंसे रुचि घटती जाती है। वैसे-वैसे ही स्व-पर-संवित्तिसे विशुद्ध आत्माका स्वरूप भी उदित होता जाता है--स्वात्म-संवित्तिका रसिक स्वरसमें मग्न हुआ बाह्य पदार्थोंसे उदासीन रहता है। उन्हें अपनेसे भिन्न अनुभव करता रहता है अतएव आत्म-संवित्तिसे उत्तम आत्मतत्त्वका लाभ करता है।

भावार्थ—ऊपरके ३७वें पद्यका भावार्थ लिखते हुए यह बतला आए हैं कि आत्माके विशुद्ध रूपकी उपलब्धिमें विषयोंकी अरुचि कारण है। इन्द्रिय-विषयोंकी विरक्तिसे आत्माका वह विशुद्धरूप अनुभवमें आने लगता है; क्योंकि विषय-लोलुपता और परिग्रह संचय ये दोनों ही स्वात्मानुभवमें बाधक हैं। अत-एव जब विषयोंकी चाह और परिग्रह रूप ग्रंथिसे मूर्छा (ममता) हट जाती है तब आत्मा अपने आनन्दका आस्वादी हो जाता है समयसार कलशामें भी कहा है:—

'विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः' ॥३४॥

'हे आत्मन् ! तू विना प्रयोजनके इस निकम्मे कोलाहलसे विरक्त हो और आत्मस्वरूपमें लीन होकर छह महीने पर्यन्त इस चैतन्य स्वरूप आत्माको देख। पुद्गलसे भिन्न तेज वाले आत्मस्वरूपकी प्राप्ति क्या तेरे इस हृदय रूपी सरोवरसे नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी।

अतः आत्मस्वरूपके जो अभिलाषी हैं उन्हें चाहिए कि वे पंचेन्द्रियके विषयोंको हेय समझकर उनके परित्याग करनेका प्रयत्न करें, और एकान्तस्थानमें बैठकर अपने उपयोगको आत्म तत्त्वके प्रति एकाग्र करनेका प्रयत्न करें ॥३८॥

स्वात्म-संवित्तिके प्रकट होजाने पर कौन कौन चिन्ह प्रकट होते हैं इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

अर्थ—योगीजन इस समस्त जगतको इन्द्रजालके समान देखते हैं क्योंकि उनके आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी प्रबल अभिलाषा उदित रहती है। यदि किसी कारणवश आत्मस्वरूपसे भिन्न

अन्य किसी पदार्थमें उनकी प्रवृत्ति हो जाती है तब उन्हें अत्यन्त संताप होने लगता है।

भावार्थ—जब तक आत्माको अपने असली स्वरूपका पता नहीं चलता तब तक ही उसे बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते हैं पर स्व-परका भेदज्ञान होते ही उसे यह सारा जगत् इंद्रजालके खेलके समान जान पड़ता है। इंद्रिय-विषय निस्सार एवं विनश्वर प्रतीत होते हैं। दृष्टिके बदलते ही सारा संसार बदला हुआ मालूम होता है, अब दृष्टिमें दृढ़ता, सत्यता और तत्त्वान्वेषणकी रुचि होती है। अतएव आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य पदार्थोंकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं जाती—वह पहले अपनेको सुधारकर आत्म-मार्गमें प्रविष्ट कर—संसारमें सुधारमार्गका आदर्श उपस्थित करना चाहता है। उसे अब सांसारिक वैभव और शारीरिक पदार्थ क्षणिक और निस्सार प्रतीत होते हैं। आचार्य अमित-गतिने सुभाषित रत्नसन्दोह में कहा है:—

'भवत्येता लक्ष्मीः कतिपयदिनान्येव सुखदा-
स्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनःप्रीतिमतुलां।
तडिल्लोलाभोगा वपुरविचलं व्याधि-कलितं' ॥
बुधाः संचियेति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रताः ॥३२५॥

'ज्ञानीको यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही सुखद प्रतीत होती है। तरुण स्त्रियाँ यौवनमें ही अतुल प्रीतिको बढ़ाती हैं। भोग बिजलीके समान चंचल और शरीर व्याधि सहित जान पड़ता है।

संसारके पदार्थोंकी ऐसी स्थिति देखकर ज्ञानी जीव अपने आत्म-स्वभावमें ही प्रेम करते हैं ॥३६॥

अब आचार्य स्वात्मसंवित्ति (स्वात्मानुभव) का फल बतलाते हुए कहते हैं :--

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥

अर्थ--स्वात्मानुभवके जागृत हो जाने पर यह आत्मा बड़े आदरसे किसी तरहसे मनुष्य संचारसे रहित एकान्त स्थानमें रहनेकी इच्छा करने लगता है और यदि कारणवश कुछ बोलना भी पड़े तो उसे शीघ्र ही भूल जाता है।

भावार्थ--जब तक आत्माको यह ज्ञान नहीं होता कि जन्म मरण, सुख, दुःख, धन निर्धन, रोग, शोक आदि सम्बन्धी दुःख यह एक अकेला आत्मा ही उपार्जन करता और भोगता है। स्त्री, पुत्र मित्रादि सब इस पर्यायके (जन्मके) ही साथी हैं, कर्मके नहीं, वे मेरी आई हुई विपत्तिमें जरा भी सहायता नहीं पहुंचा सकते। यह आत्मा भूलसे ही उन्हें अपनी रक्षाका कारण समझता है और उनका साथ छोड़नेमें भय करता है और वियोग होने पर व्याकुल होने लगता है, मैं अकेला ही हूं और मेरा कोई संगा साथी नहीं है। मैं अकेला ही सुख दुखका कर्ता भोक्ता

हूं। स्त्री पुत्रादि सब अपने-अपने मतलबके हैं। इनका मेरी आत्माके साथ केवल संयोग सम्बन्ध है, उस समय इसे स्त्री, पुत्र, मित्रादि कुटुम्बके बीच रहना दुःखदायी जान पड़ता है और तब गिरिकंदर, वन, स्मशान, मठ और मंदिर आदि जन कलहसे शून्य एकान्त निर्जन स्थानोंमें वसनेकी चेष्टा करने लगता है परन्तु भोजनादिकी पराधीनतासे कुछ समयके लिए उन एकान्त स्थानोंको छोड़कर नगर ग्रामादिमें जाना पड़ता है पर वहां आहार लेकर आते ही जब स्वात्मानन्दमें मस्त होकर स्वरूप चिन्तनमें लीन हो जाता है, तब वह सब संकल्प विकल्प भूल जाता है। और आत्मध्यानमें संलग्न हो निर्विकल्प परम समाधिकी साधनामें अपनेको लगाकर मोह ग्रंथिको भेदनेका प्रयत्न करता है। आत्मध्यानसे ही कर्म शृंखला खंडित होती है। अतः वह उसीका प्रयत्न करता है।

आत्म ध्यानका फल तत्त्वानुशासनमें निम्न प्रकार वतलाया है:—

गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणा सौष्ठवाध्यान प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

'गुरुके उपदेशानुसार सदा आत्मस्वरूपका अभ्यास करनेवाला योगी धारणाके सौष्ठव (सम्यक् अनुष्ठान) आदि ध्यानके प्रत्ययोंका साक्षात् प्रत्यक्ष करने लगता है। अर्थात् जिस समय आत्मस्वरूपके चितनमें संलीन हो जाता है उस समय उसे संसार

का कोई भी पदार्थ अदृश्य प्रतीत नहीं होता, वह अपने आत्मानन्दमें ही मस्त रहता है।

आत्मध्यानका कार्य बतलाते हुए आचार्य कहते हैं:—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

अर्थ–जिस समाधिनिष्ठ योगीकी आत्मस्वरूपमें स्थिरता हो जाती है वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता, और देखता हुआ भी नहीं देखता है।

भावार्थ– शुद्ध आत्मस्वरूप के चिंतनमें जिस योगीकी स्थिरता हो जाती है उस समय उसे आत्मानन्दके मधुर रसके सिवाय अन्य वस्तुएँ नीरस एवं अरुचिकर प्रतीत होती हैं। अत एव उस समय यदि योगीको परके अनुरोधवश कुछ बोलना या उपदेशादि भी देना पड़ता है। तो उस कार्यमें मुख्यता बुद्धि-पूर्वक प्रवृत्ति न होनेके कारण उपदेश देता हुआ भी उपदेश न देना जैसा ही है। समाधितन्त्रमें कहा भी है:—

"आत्मध्यानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥"

आत्महितके अभिलाषी अन्तरात्मा जीवोंको चाहिए कि वे अपने उपयोगको इधर उधर न घुमाकर अपना अधिक समय आत्म-चिंतनमें ही लगावें। यदि स्व-परके उपकारादिवश उन्हें वचन और कार्यसे कोई काम करना ही पड़े तो वे उसे अनासक्ति

पूर्वक करें— उसमें अपने चित्तको अधिक न लगावें। ऐसा करने से वे आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं हो सकेंगे, और उनकी आत्मिक शांतिमें कोई बाधा भी उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि ज्ञानीजनोंकी उन पर पदार्थोंमें अनासक्ति होनेके कारण उनका स्वामित्व नहीं रहता। यद्यपि प्रयोजनवश उन्हें उन कार्योंमें प्रवृत्ति करनी भी पड़ती है तो भी वे उनमें रागी नहीं हो सकते और न आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें उन्हें आनन्द ही प्रतीत होता है।

अब उक्त बातको और भी स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

अर्थ—योगानुष्ठानमें संनिरत (समरसी भावका अनुभव करनेवाला) योगी अनुभवमें आने वाला तत्त्व क्या है? किस प्रकारका है। उसका कौन स्वामी है। किससे उदित है। और कहां पर उसकी स्थिति है। इस तरहके भेद भावका अनुभव करते हुए वह अपने शरीरको भी नहीं जानता।

भावार्थ—निजात्मस्वरूपका चिन्तन एवं ध्यान करने वाले योगीके जब भेददृष्टि बनी रहती है तब तक मैं जिस तत्त्वका अनुभव करता हूँ वह यह है, इस रूप है, उसका यह स्वामी है, इससे उदित हुआ है और यहाँ पर स्थित है तब तक उसे अपने

शरीरका परिज्ञान भी बना रहता है किन्तु जब ध्याता योगीके पदार्थ चिन्तनमें (ध्यानअवस्थामें) अभेदवृत्तिका अनुभव होने लगता है उस चिंतनीय पदार्थमें यह कैसा है, कौन है, उसका कौन स्वामी है। कहाँसे उदित होता है और कहां रहता है इस प्रकार-के अभेदात्मक उपयोगकी स्थिरता जब हो जाती है संसारके अन्य संकल्प-विकल्पोंसे शून्य एक अकिंचन एवं निरंजन आत्माका ही अनुभव रहता है उस समय योगीको उपयोगकी तन्मयताके कारण अपने शरीरका भी वेदन नहीं होता, कहा भी है:—

'तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥'

'जिस समय योगी अपने योगमें तन्मय हो जाता है उस समय परम एकाग्रतासे वह अपने अकिंचन शुद्ध स्वरूपका ही अवलोकन करता रहता है अतएव बाह्य पदार्थोंके होते हुए भी उसे अन्य कुछ भी अनुभव नहीं होता। इसी भावको आचार्य अमृतचन्द्र निम्न पद्यमें व्यक्त करते हैं :—

'स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाल-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं,
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९१॥

जो तत्त्ववेदी है—आत्मतत्त्वका अनुभव करने वाला है—

वह स्वेच्छासे उठने वाले बहुत विकल्पोंके जालात्मक नय पक्षरूप गहन वनका उल्लंघन कर समतारसरूप एकस्वभाववाले अनुभूति मात्र अपने आत्मस्वभावको प्राप्त होता है। जब तत्त्वज्ञानी आत्मा अपनी सर्वशक्तिको इधर उधरसे संकुचित अथवा केन्द्रित कर एक निजानन्दरूप अपने चैतन्य स्वभावमें स्थिर कर देता है उस समय हेय उपादेयरूप विकल्पजाल नहीं होते। किन्तु आत्मा अपनेमें निष्ठ हुआ समतारूप वीतरागभावका आस्वादन करता है ॥४२॥

अब शिष्य पुनः पूछता है कि हे भगवन्! इस तरहका अवस्थान्तर कैसे संभव है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:--

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

अर्थ--जो मनुष्य जहां रहता है उसकी वहीं प्रीति हो जाती है और उसीमें रम जाने के कारण वह फिर अन्यत्र नहीं जाना चाहता।

भावार्थ—यह बात श्लोकमें प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य जिस नगर, शहर या ग्राममें रहता है उसका प्रेम उस स्थान अथवा वहांके मकान आदिसे हो जाता है यदि वह किसी से झोंपड़ेमें ही रहता है तो भी उसकी प्रीति उस झोंपड़े-

से हो जाती है वह उसीमें आनन्द पूर्वक रहता है, और अच्छे या बुरे उस स्थानको छोड़ना नहीं चाहता। ठीक उसी तरह जब तक आत्मा अपनेको नहीं जानता तब तक ही वह पर पदार्थोंको अपना मानता है और उन्हें ही अपना हितैषी समझ उन्हींमें रति करता है,तथा उन्हींमें सुखकी कल्पनाकर बार-बार भोगनेका प्रयत्न करता रहता है किन्तु आनन्दस्वरूप अपने ज्ञानानन्द स्वरूपकी ओर झांककर भी नहीं देखता; परन्तु जिस समय उस योगीकी दृष्टि बदल जाती है--उसमें सचाई एवं श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने शुद्ध स्वरूपकी ओर हो जाती है तब उसे आत्मस्वरूपके चिंतन मनन अथवा ध्यानसे समुत्पन्न आनन्दका अनुभव होने लगता है। उस समय उसे बाह्य पदार्थोंके दर्शन स्पर्शनादिकी कोई इच्छा नहीं रहती, उसे निजात्मरसके अनुभवके सामने वे सब भोग नीरस एवं दुखदाई प्रतीत होते हैं और अब वह आत्मरसके पानमें ही संलीन रहता है।

योगीकी स्वात्मानुभवमें रति होने पर जब अन्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति नहीं होती तब क्या होता है? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं:—

आगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्यते न विमुच्यते ॥४४॥

अर्थ—स्वात्मतत्त्वमें निष्ठ योगीकी जब देहादि पर पदार्थोंमें प्रवृत्ति नहीं होती—स्वात्मासे भिन्न देहादि बाह्यपदार्थोंके विशेषोंका यह सुन्दर है अथवा असुन्दर है, अच्छे हैं या बुरे हैं उनका उसे कोई अनुभवन नहीं होता। और जब बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्ट जन्य राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति नहीं होती तब वह योगी कर्मोंसे नहीं बंधता है। किन्तु व्रतादिके अनुष्ठानसे वह कर्म-बन्धनसे छूटता ही है।

भावार्थ—जो मनुष्य जिस पदार्थके चिंतनमें तन्मय हो जाता है तब उसे दूसरे अन्य पदार्थोंके अच्छे बुरे स्वभावका जरा भी ज्ञान नहीं रहता अतएव उसका दूसरे पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता—उनसे उसका सम्बन्ध छूट जाता है। आत्मज्ञ योगी भी जिस समय स्वात्मनिष्ठ हो जाता है तब उसकी प्रवृत्ति शरीरादि बाह्यपदार्थोंमें नहीं होती अतएव उसे उनके अच्छे और बुरे स्वभावका भी परिज्ञान नहीं होता, और बाह्यपदार्थोंमें इष्टानिष्ट संकल्प-विकल्प न होनेसे उनमें रागद्वेषरूप परिणति भी नहीं होती, तब उनसे जायमान शुभाशुभ कर्मका बन्ध भी नहीं होता; किन्तु स्वरूपमें प्रवृत्ति होनेके कारण उल्टी कर्मोंकी निर्जरा ही होती है जिससे फिर उसे कर्मबन्धनसे छुटकारा मिल जाता है—मोक्ष हो जाती है। इसी भावको आचार्य अमृतचन्द्र निम्न प्रकारसे व्यक्त करते हैं—

एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्,
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातु मसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥

'यह आत्मा-ज्ञायकभावसे परिपूर्ण ज्ञानके एक महास्वादको लेता हुआ, और दो भिन्न वस्तुओंके मिले हुए मिश्र स्वादको लेनेमें असमर्थ, किन्तु अपनी वस्तुकी प्रवृत्तिको जानता है—अनुभव करता है, क्योंकि वह आत्मा अपने आत्मानुभवके प्रभावसे विवश होता हुआ और ज्ञानके विशेषोंके उदयको गौण करता हुआ मात्र सामान्य ज्ञानका अभ्यास करता है और सर्वज्ञानकी एकता को प्राप्त करता है। ज्ञानीके आत्मस्वरूपके मधुररस स्वादके सामने अन्य सब रस फीके हो जाते हैं पदार्थोंका भेदभाव मिटजाता है ज्ञानके विशेष (भेद) ज्ञेयोंके निमित्तसे होते हैं। सो जब ज्ञानसामान्यका आस्वाद होने लगता है तब ज्ञानके विशेष स्वयं गौण हो जाते हैं किन्तु जब एक ज्ञान ही ज्ञेय रह जाता है। तब आत्मा अद्वैत भावको प्राप्त होता है उस समय कर्मबन्धन न होकर केवल कर्मनिर्जरा ही होती है ॥४३॥

आचार्य और भी उपदेश देते हुए कहते हैं—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

अर्थ—देहादि पर पदार्थ तो पर ही हैं उन्हें अपना मानने-

से दुःख होता है किन्तु आत्मा आत्मा ही है--आत्म पदार्थ अपना है वह अपना ही रहेगा—वह कदाचित् भी देहादिरूप नहीं हो सकता—उसे अपनानेसे सुख प्राप्त होता है। इसीलिए तीर्थंकरादि महापुरुषोंने आत्माके लिए ही उद्योग किया है--विविध घोर तपश्चरणके अनुष्ठान द्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्ति की है।

भावार्थ--संसारमें स्त्री, पुत्र, मित्र और शरीरादि जो भी पदार्थ देखनेमें आते हैं वे सब चेतनारहित जड़स्वरूप हैं अतएव वे सब पदार्थ अपने चिदानन्द स्वरूपसे भिन्न हैं। यह अज्ञानी आत्मा उनमें आत्मत्वकी कल्पना करता है—उन्हें अपना मानता है और उनके वियोगमें दुःखी होता है; क्योंकि जिन पदार्थोंका कर्मोदयवश संयोग होता है उनका नियमसे वियोग होता है। कहा भी है—"संयोगानां वियोगो हि भविता हि नियोगतः"—संयोगी पदार्थोंका नियमसे वियोग होता है। और यह अज्ञ प्राणी उनके वियोगमें अत्यन्त दुःखी होता है--विलाप करता है। किन्तु जो आत्मपदार्थ है वह चेतनास्वरूप है—ज्ञाता दृष्टा है, वह अपना ही है उसे अपनाने, जानने तथा तदनुकूल वर्तन रूप प्रवृत्ति करनेसे उसकी प्राप्ति होती है—आत्मसाधनासे स्वाधीन निराकुल आत्मसुखकी उपलब्धि होती है। हमारे पूर्वज तीर्थंकरादि महापुरुषोंने शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें अपने स्वरूपसे भिन्न, कर्मोदयसे होने वाले संयोगवियोगादि कार्यों को दुःखदायी समझकर उनमें होनेवाली आत्मकल्पनाका परित्याग किया है।

और आत्माको आत्मा समझकर—अपना स्वरूप मानकर उसकी साधनाके लिये कठोर तपश्चरणरूपी अग्निमें उसे तपाकर उसके शुद्धस्वरूप की प्राप्ति की है। उसकी समुपलब्धि एवं प्राप्तिके निमित्त ही सारा अनुष्ठान किया है। और उसकी प्राप्ति कर लोकहितके आदर्श मार्गका प्रणयन किया है। उसकी वास्तविक प्राप्तिका सुगम और सीधा उपाय बतलाया है।

परपदार्थोंमें अनुराग करने पर क्या क्या फल प्राप्त होते हैं ? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं--

अविद्वान पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

अर्थ--अज्ञानीजीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है अतएव पुद्गलद्रव्य चारों गतियोंमें आत्माका सम्बन्ध नहीं छोड़ता--वह बराबर साथ बना रहता है।

भावर्थ--शरीरादिक पुद्गलद्रव्य अचेतन और सर्वथा हेय हैं वे अपने चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं। वे आत्माके कभी नहीं हुए और न हो ही सकते हैं परन्तु मोही मिथ्यादृष्टि जीव को इस भेदज्ञानका कोई विवेक नहीं होता कि यह पदार्थ हेय और यह उपादेय है वह तो अपनेसे भिन्न पदार्थोंमें आत्मत्व-की कल्पना करता हुआ, उसकी विभिन्न परिणतिसे रागी द्वेषी होता है और तज्जनित आश्रव बन्ध से उसे नरक, तिर्यंच,

मनुष्य और देवरूप चतुर्गतिरूप संसारमें घूमना पड़ता है यह उनमें भ्रमण करता और उनकी शारीरिक तथा मानसिकादि वेदनाओंको सहता हुआ भी परद्रव्यके अनुरागको नहीं छोड़ता और न उनमें आत्म-कल्पनाका ही परित्याग करता है, जिससे उसे छुटकारा मिले।

स्वरूपको अपनानेसे क्या फल होता है ? इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं--

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

अर्थ–प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहारसे रहित होकर जब आत्मा अपने अनुष्ठानमें–स्वस्वरूपकी प्राप्तिमें—लीन हो जाता है तब उस आत्मनिष्ठ योगीके परम समाधिरूप ध्यानसे किसी वचनातीत और अन्यत्र असम्भव ऐसे अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—स्वा स्वरूपमें निष्ठ होना ही योग है और उस योगका साधन करने वाला योगी कहलाता है और वह योग अथवा समाधी ही उस अनिर्वचनीय आत्मानन्दकी जनक है, परन्तु जब तक दृश्यमान बाह्य पदार्थोंमें किंचित् भी ममता बनी रहती है तबतक स्वस्वरूपमें लीनता हो सकती, किन्तु जब उस योगी की बाह्य पदार्थोंमें किसी प्रकारकी कोई ममता नहीं रहती तब वह

स्वरूपमें निष्ठ (लीन) होता है । और उस सच्चिदानन्दरूप-में एकाग्र होना ही उस वचनातीत परमानन्दकी प्राप्तिका कारण है । इसी आशयको आचार्यदेवसेनने अपने तत्त्वसारकी निम्न गाथा में व्यक्त किया है--

उभयविणट्ठे भावे णियउवलद्धे सुसुद्ध ससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ॥५८॥

'आत्मासे राग-द्वेष रूप उभय परिणामके विनष्ट हो जाने पर और स्वकीय विशुद्ध निज स्वरूपके लाभ होने पर योगीको योग शक्तिके द्वारा परम आनन्दकी प्राप्ति होती है । वास्तवमें परम आनन्दकी प्राप्तिका मूल कारण राग-द्वेषका अभाव है । अतः हमें चाहिए कि हम परपदार्थोंमें राग-द्वेषकी परम्पराको स्थान न दें, और उसे आत्मामेंसे दूर करनेका बार बार प्रयत्न करें ।

अब आचार्य उस आत्मानन्दका कार्य बतलाते हुए कहते हैं :-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

अर्थ--वह परम आनन्द सदा आनेवाले प्रचुर कर्मरूपी ईंधनको जला डालता है उस समय ध्यान-मग्न योगीके बाह्य पदार्थोंसे जायमान दुःखोंका कुछ भी भान न होनेके कारण कोई खेद नहीं होता ।

भावार्थ—कर्मकी बलवत्ता प्रसिद्ध है उस कर्म शक्तिका जब तक आत्मा पर प्रभाव बना रहता है तब तक उसे अपने निज स्वरूपका किंचित् भी ज्ञान नहीं हो पाता। यह कर्मरूपी मदारी आत्माको आशारूपी पाश (जाल) में बाँध कर चतुर्गतिरूप संसारमें घुमाता है वहाँ उसे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं; परन्तु जब किसी कारणसे उस कर्मशक्तिका बल कम हो जाता है तब आत्माको अपने स्वरूपका भी कुछ कुछ भान होने लगता है और वह सुगुरुका उपदेश पाकर अथवा शास्त्रज्ञान द्वारा आत्मस्वरूपका परिज्ञान कर अपने शुद्ध स्वरूपमें तन्मय होने लगता है-—उसीके ध्यान एवं चिन्तनमें लगा रहता है—उस समय कर्मोंका बल बराबर क्षीण होता चला जाता है और आत्म-शक्तिका बल दिन पर दिन विकास पाने लगता है, पूर्ण विकसित होने पर किसी समय उस कर्म-शक्तिका समूल नाश हो जाता है। आचार्य महोदयने इस पद्यमें इसी भावको निबद्ध किया है और बतलाया है कि योगी जिस समय स्व-स्वरूपके चिन्तवनसे समुत्पन्न आनन्दको प्राप्त कर लेता है उस समय संचित कर्मरूपी ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। योगीके स्वरूप निष्ठ होनेसे बाह्य पदार्थोंके अच्छे बुरे परिणमनका उसे कोई भान नहीं हो पाता। अतएव उसे तज्जनित खेदका पात्र भी नहीं होना पड़ता। खेदका अनुभव तो उसी समय तक होता है जब तक आत्मप्रवृत्ति मन, इन्द्रियों तथा उनके विषयोंमें होती है, और जब आत्म-

प्रवृत्ति आत्मनिष्ठ हो जाती है तब उसे बाह्य प्रवृत्ति का कुछ भी भान अथवा ज्ञान नहीं होता। यह आत्मसंलग्नता अथवा चित्त की एकाग्रता ही उस कर्म-शक्तिकी दाहक—जलाने वाली—है।

इसी भावको और भी ग्रन्थकार व्यक्त करते हुए कहते हैं:—

उसकी प्राप्ति चित्तकी स्थिरता तथा ध्यान से होती है।

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥४९॥

अर्थ—वह ज्ञान स्वभावरूप ज्योति अविद्या (अज्ञान) विनाशक, महान् उत्कृष्ट और ज्ञानमय है। अतएव मुमुक्षुओंके लिए उसीके विषयमें पूछना, उसीकी प्राप्तिकी अभिलाषा करना और उसीका अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ—जिस आत्मानन्द का ऊपर उल्लेख किया गया है वह अपूर्व ज्योति है, अज्ञान अन्धकारकी विनाशक है, स्वपर-प्रकाशक है, और ज्ञानस्वरूप है उसके समान हितकारी अन्य कोई पदार्थ नहीं है अतएव वह महान है। आत्मामें उसके दैदीप्यमान रहने पर अज्ञानका सर्वथा विनाश हो जाता है और आत्माकी अनन्त चतुष्टयरूप आत्म-शक्तियां विकसित हो जाती हैं इसीसे उसकी महानताका अन्दाज लगाया जा सकता है अतए जो पुरुष मोक्षाभिलाषी हैं, उस आत्मानन्द रूप परमज्योति उपासक हैं अथवा उसे प्राप्त करनेके इच्छुक हैं। उनका कर्तव्य कि वे प्रत्येक समय उस आत्मज्योतिका ही विचार करें उसी

सम्बन्धमें पूछें, और उसीकी प्राप्तिकी निरन्तर अभिलाषा करें तथा प्रयत्न करें; क्योंकि वह भावना आकुलता दुःख एवं सन्तापकी नाशक है और आत्मबल बढ़ाने वाली है। उस ज्योतिके अनुभवसे जो परम आनन्द होता है उससे कर्म-शक्तिका रस क्षीण हो जाता है और आत्मा अपने में एकाग्र होने लगता है। इस भावको ग्रन्थकारने समाधितंत्रमें व्यक्त करते हुए कहा है:—

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

योगीको चाहिए कि वह उस समय तक आत्म ज्योतिका स्वरूप कहे, उसी के सम्बन्धमें पूछे, उसीकी इच्छा करे और उसीमें लीन होवे। जब तक अविद्या (अज्ञान) मय स्वभाव दूर होकर विद्यामय न हो जावे।

वस्तुतत्त्वका विस्तारसे विवेचन कर अब श्री गुरु उक्त तत्त्वका संकोच करते हुए करुणावश उसे शिष्यके हृदयमें संस्थापित करनेकी अभिलाषासे शिष्यसे कहते हैं कि हे सुमते! हेयोपादेयरूप तत्त्व के अधिक विवेचनसे क्या, प्राज्ञचित्तोंमें तो वह संक्षेपमें ही हृदयस्थ किया जा सकता है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥५०॥

अर्थ—जीव शरीरादिक पुद्गलसे भिन्न है और पुद्गल जीवसे भिन्न है यही तत्त्वका संग्रह है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसही का विस्तार है।

भावार्थ—वास्तवमें तत्त्व तो सत् मात्र (सन्मात्रं तत्त्वं) है परन्तु उस सन्मात्र तत्त्वसे प्रत्येक पदार्थकी असलियतका भान नहीं हो सकता, अतएव उसके चेतन अचेतनरूप दो भेदोंको स्वीकार किया गया है उनमें चेतन अचेतनसे सर्वथा भिन्न है और वह कभी भी अपने स्वरूप को छोड़कर अचेतन नहीं हो सकता। इसी तरह अचेतन (पुद्गल) भी चेतनसे सर्वथा भिन्न जड़स्वरूप है, और वह कभी भी चेतन नहीं बन सकता। चेतन की ज्ञान दर्शनरूप दो पर्यायें हैं उनमें ज्ञानके मतिज्ञानादि आठ भेद हैं और दर्शन के चक्षुदर्शनादि चार भेद हैं। उस अचेतनके भी पुद्गलादि अनेक भेद हैं जिनका अणुस्कंधादि रूपसे शास्त्रों में विवेचन किया गया है। इस तरह यह समस्त संसार चेतन और अचेतन रूप है। इन्हीं दोनों तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे अन्य पर्याय रूप पांच तत्त्वोंकी—आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्षकी—उत्पत्ति होती है। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो इन दोनोंमें से किसी एक रूप न हो, ज्ञान दर्शन और शरीरादिमें भेद-प्रभेदरूप चेतन अचेतनरूप पदार्थ सब इन्हीं दो तत्वों का संग्रह, विस्तार अथवा परिकर है। अतः ज्ञानीका कर्तव्य है कि वह इन दोनोंका जुदा-जुदा अनुभव करे जड़को जड़रूप और चेतन को चेतन रूपसे अनुभव करे। इस जड़से भिन्न केवल चैतन्यका अनुभव कर आत्मस्वरूपमें तन्मय होकर स्वपदका आस्वादी रहे; क्योंकि मोहकर्मके उदय

जिन गुणस्थानों, मार्गणाओं आदिका कथन किया गया है वे सब अचेतन रूप हैं,* वे चेतन कैसे हो सकते हैं? चैतन्य स्वरूप आत्मा तो ज्ञानानन्द मय है, वर्णादिक व रागादिकसे रहित ज्ञान स्वभाव है। अतः आत्मज्ञानीका कर्त्तव्य है कि वह ऊपर बतलाये हुए चेतन अचेतन तत्त्वोंका और इनके सम्बन्धसे होने वाले पर्याय तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् रूपसे अनुभव करता हुआ स्वपदमें मग्न होनेका प्रयत्न करे, क्योंकि स्वपदमें मग्न हुए बिना अचेतनके अनादि सम्बन्धको दूर करना कठिन है---भेदज्ञान रूप तीक्ष्ण असिधारा ही भेद कर उसे दूर कर सकती है ॥५०॥

अब आचार्य इस शास्त्र अध्ययनके साक्षात् और परम्परा फलका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :--

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

---

* मोहण कम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥
समयसारे कुन्दकुन्दः

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थ-तच्चदो णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥
मयसारे कुन्दकुन्दः

अर्थ--जो भव्य जीव--अनन्त ज्ञानादिरूप लब्धियोंको प्राप्त करने वाला जीव इस इष्टोपदेश नामक ग्रन्थको भले प्रकार पढ़कर—सम्यक् व्यवहार निश्चयनयसे वस्तु तत्त्वका अध्ययन कर--मनन एवं विचारकर—हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष होकर—आन्तरिक आत्मज्ञानके बलसे मान अपमानमें समताभावका विस्तार करता हुआ--हर्ष विषादादि जन्य राग-द्वेष रूप कल्लोलोंमें मध्यस्थ हुआ बाह्य पदार्थों के मोहवश होने-वाले मिथ्याभिनिवेशसे रहित हुआ—ग्राम, वन, जंगल और गिरि-गुफाओंमें निवास करता हुआ, निरूपम अनन्तज्ञानादि संपदासे युक्त मुक्ति-लक्ष्मीको--स्वात्मोपलब्धि या निज स्वभाव-की अच्युतिरूप पूर्ण स्वाधीनताको प्राप्त करता है।

भावार्थ--ग्रन्थका उपसंहार करते हुए आचार्य पूज्यपादने इस पद्यमें इस ग्रंथके अध्ययनका साक्षात् और परम्परा फल बत-लाया है कि जो आत्महितैषी भव्य इस ग्रंथका भली भांति अध्य-यन करता है उसका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्तिरूप प्राप्त करता है। साथ ही, वह निश्चय व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित पदार्थ-की यथार्थ दृष्टिको सामने रखकर वस्तु तत्त्वका मनन करता है— आत्मस्वरूपमें निमग्न हुआ अन्तर्दृष्टिके जागृत होनेसे मोहवश परपदार्थमें होने वाले मिथ्या आत्माभिनिवेशको और उससे समुत्पन्न संकल्प-विकल्पात्मक राग द्वेष रूप मान अपमानकी कल्पनाको--भुला देता है—उसके विषैले परिणाम रूप संस्कार-

को समताभावके द्वारा जला देता है—उसे निष्प्राण बना देता है। जिसकी योग-साधनामें शत्रु, मित्र, महल, मसान, कंचन, कांच, निन्दा, स्तुति आदि पदार्थ समान रूपसे अनुभवमें आते हैं। जो जन कोलाहलसे दूर भीमकाय वन, गांव, और गिरि कन्दरामें निवास करता है। आत्माके अनुष्ठानमें सदा जागृत और विवेक एवं धर्मसे विचरण करता है, जो नय पक्षकी कक्षाको पार कर चुका है, ज्ञान और वैराग्य सागरमें डुबकी लगाता हुआ अहंभाव और ममभावसे दूर रहता है, आत्म-समाधिमें लीन हो कर स्वरूपानुभव द्वारा परम आनन्दरूप सुधारसका पान करता हुआ तृप्त नहीं होता, वह भव्य परम्परासे उस अनन्तज्ञानादि अनुपम, अमित, शाश्वत, बाधारहित, और अन्य द्रव्य निरपेक्ष उत्कृष्ट, परम सुखस्वरूप लक्ष्मीका पात्र होता है—सिद्ध परमात्मा बनता है ॥५१॥

* अन्त मंगल *

चिदानन्द चिद्रूप-घन, कर्म-कलंक-विमुक्त ।
वीत-दोष निर्मल शमी, गुण अनन्त संयुक्त ॥१॥

नमों जोर जुगपान मैं, शुद्ध चिदानन्द देव ।
भव-बाधा चकचूर हो, कर्म नशें स्वयमेव ॥२॥

इन्दुकुमारी-बोध-हित, टीका करी सुजान ।
अल्प आयुमें दिव गई, कर न सकी निज ज्ञान ।

संवत् विक्रम सहस द्वय, अष्ट अधिक पहिचान ।
अर्द्धरात्रि से ऊन कुछ, समय व्यतीत सुमान ॥४॥

———

॥ ॐ ॥

श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित—

समाधितंत्रम्

श्रीप्रभाचन्द्रविनिर्मितसंस्कृतटीका सहितम्

(मंगलाचरण)

सिद्धं जिनेन्द्रममलाऽप्रतिमप्रबोधम् निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥१॥

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षुणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

टीका—अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम् । सिद्धात्मने सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः स चासावात्मा च तस्मै नमः । येन किं कृतं ? । अबुद्ध्यत ज्ञातः । कोऽसौ ? आत्मा कथं ? आत्मैव । अयमर्थः येन सिद्धात्मनाऽऽत्मैवाध्यात्मत्वेनाबुद्ध्यत न शरीरादिकं कर्मापादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्यायादिकं वा । तथा परत्वेनैव चापरं अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीवपर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनो-भेदेनैवाबुद्ध्यत् । तस्मै कथंभूताय ? अक्षयानन्तबोधाय अक्षयोऽविनश्वरो-ऽनन्तो देशकालानवच्छिन्नसमस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधो यस्य तस्मै । एवंविध-बोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यैरविनाभावित्वसामर्थ्यादनंतचतुष्टयरूपायेति गम्यते ।

तत्प्राप्ताय । धात्रे असिमषिकृष्यादिभिः सन्मार्गोपदेशकत्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय । **सुगताय** शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्य गतिं गतः सम्पूर्ण वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै । **विष्णवे** केवलज्ञानेनाशेषवस्तुव्यापकाय । **जिनाय** अनेकभवगहनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तस्मै । **सकलात्मने** सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः सचासावात्मा च तस्मै नमः ॥२॥

ननु—निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

टीका—अथ इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं । **अभिधास्ये** कथयिस्ये । कं ? **विविक्तमात्मानं** कर्ममलरहितं जीवस्वरूपं । कथमभिधास्ये ? **यथात्मशक्ति** आत्मशक्तेरनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? **समीक्ष्य** तथाभूतमात्मानं सम्यग्ज्ञात्वा । केन ? **श्रुतेन**—

"एगो मे सासओ आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा" ॥१॥

'इत्याद्यागमेन । तथा **लिंगेन** हेतुना । तथाहि—शरीरादिरात्मभिन्नो-भिन्नलक्षणलक्षितत्वात् । ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वं तयोर्भेदो यथा जलानलयोः, भिन्नलक्षणलक्षितत्वं चात्मशरीरयोरिति । न चानयोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वमप्रसिद्धम् । आत्मनः उपयोगस्वरूपोपलक्षितत्वात्—शरीरादेस्तद्विपरीतत्वात् । **समाहितान्तः करणेन** समाहितमेकाग्रीभूतं तच्च तदन्तः करणं च मनस्तेन । **सम्यक्**—समीक्ष्य सम्यग्ज्ञात्वा अनुभूयेत्यर्थः । केषां तथाभूतमात्मानमभिधास्ये ? **कैवल्यसुखस्पृहाणां** कैवल्ये सकलकर्मरहितत्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे वा सुखे; कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम् ॥३॥

इत्यणष्टेर्भमात्रे टिलोपमित्यस्याऽनित्यत्वं येषां च विरोधः शाश्वतिक इति निर्देशात्, "अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा । स कथं भूतो भवति ? **चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः** चित्तं च विकल्पो दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य । चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते दोषाश्च दोषत्वेन आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः । चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य । **परमात्मा** भवति, किं विशिष्टः ? **अतिनिर्मलः** प्रक्षीणाशेषकर्म मलः ।।५।।

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ।।६।।

टीका—**निर्मलः** कर्ममलरहितः । **केवलः** शरीरादीनां सम्बन्धरहितः । **शुद्धः** द्रव्यभावकर्मणामभावात् परमविशुद्धिसमन्वितः । **विविक्तः** शरीरकर्मादिभिरसंस्पृष्टः । **प्रभुरि**न्द्रादिनां स्वामी । **अव्ययो** लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः । **परमेष्ठी**-परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी, स्थानशीलः । **परात्मा** संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा । इति शब्दः प्रकारार्थे एवं प्रकारा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति । **परमात्मा** सकल प्राणिभ्य उत्तम आत्मा । **ईश्वरः** इन्द्राद्यसम्भविना अन्तरङ्गबहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः **जिनः** सकलकर्मोन्मेलकः ।।६।।

इदानीं बहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह—

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो+देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ।।७।।

टीका—**इन्द्रियद्वारै**रिन्द्रियमुखैः कृत्वा **स्फुरितो** बहिरर्थग्रहणे व्यापृतः

+ "स्फुरितश्चात्मनोदेह" इत्यपि पाठान्तरम् ।

स्वदेहे एवमध्यसायं कुर्वाणो वहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह—

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।

परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

टीका—व्यापारव्याहाराकारादिना **स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा** । कथम्भूतं ? परात्मनाऽधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेनसंगतं **मूढो** वहिरात्मा **परत्वेन** परात्मत्वेन अध्यवस्यति ॥१०॥

एवंविधाध्यवसायात्किं भवतीत्याह—

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।

वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

टीका—**विभ्रमो** विपर्यासः **पुंसां वर्तते** । किं विशिष्टानां ? **अविदितात्मनां** अपरिज्ञातात्मस्वरूपाणां । केन कृत्वाऽसौ वर्तते ? **स्वपराध्यवसायेन** । क्व ? देहेषु । कथम्भूतो विभ्रमः ? **पुत्रभार्यादिगोचरः** । परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्यादिकमात्मीयमुपकारकं च मन्यते । तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्तापमात्मवधादिकं च करोति ॥११॥

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह—

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।

येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

टीका—तस्माद्विभ्रमाद् वहिरात्मनि **संस्कारो** वासना **दृढो**ऽविचलो **जायते** । किन्नामा ? **अविद्यासञ्ज्ञितः** अविद्यः संज्ञाऽस्य संजातेति "तारकादिभ्य इतच्" । **येन** संस्कारेण कृत्वा **लोको**ऽविवेकिजनः । **अंगमेव** शरीरमेव । **स्वं** आत्मानं । **पुनरपि** जन्मान्तरेऽपि । **अभिमन्यते** ॥१२॥

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह—

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं ॥१३॥

टीका—**देहे स्वबुद्धि**रात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति ? **आत्मानं युनक्ति** सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः केन ? **एतेन देहेन** । **निश्चयात्** परमार्थेन । **स्वात्मन्येव** जीवस्वरूपे एव **आत्मधी**रन्तरात्मा । निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति ॥१३॥

देहेष्वात्मानं योजयतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमाचार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं ! जगत् ॥१४॥

टीका—**जाताः** प्रवृत्ताः । काः ? **पुत्रभार्यादिकल्पनाः** । क्व ? **देहेषु** । कया ? **आत्मधिया** । क्व ? देहेष्वेव । अयमर्थः—पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येत्यादिकल्पना विकल्पा जायन्ते । ताभिश्चानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च । **सम्पत्तिं** पुत्रभार्यादिविभूत्यतिशयं **आत्मनो मन्यते** जगत्-कर्तृ स्वस्वरूपाद् वहिर्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः **हा हतं** नष्टं स्वस्वरूपपरिज्ञानाद् ॥१४॥

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

टीका—**मूलं** कारणं । कस्य ? **संसारदुःखस्य** । काऽसौ ? **देह एवात्मधीः** देहः कायः स एवात्मधीः । यत एवं **ततस्**तस्मात्कारणात् । **एनां** देह एवात्मबुद्धिं । **त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत्** आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थः । कथंभूतः सन् ? **बहिरव्यापृतेन्द्रियः** बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य ॥१५॥

अन्तरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्थामनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो (यतितो) विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

टीका—मत्तः आत्मस्वरूपात् । च्युत्वा व्यावृत्य । अहं पतितः (यतितः) अत्यासक्तया प्रवृत्तः । क्व ? विषयेषु । कैः कृत्वा ? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः । ततस्तान् विषयान् प्रपद्य ममोपकारका एते इत्यतिगृह्यानुसृत्य । मां आत्मानं । न वेद न ज्ञातवान् । कथं ? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो न ज्ञातवानित्यर्थः । कदा ? पुरा पूर्वं अनादिकाले ॥१६॥

अथात्मनो ज्ञप्तावुपायं दर्शयन्नाह—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

टीका—एवं वक्ष्यमाणन्यायेन । बहिर्वाचं पुत्रभार्याधनधान्यादि लक्षणान्तर्बहिरर्थवाचकशब्दान् । त्यक्त्वा । अशेषतः साकल्येन । पश्चात् अन्तर्वाचं "अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुःखी, चेतनावेत्यादिलक्षणमन्तर्जल्पं त्यजेदशेषतः । एष बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः । योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः । प्रदीपः स्वरूपप्रकाशकः । कस्य ? परमात्मनः । कथं ? समासेन संक्षेपेण झटिति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥१७॥

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

टीका—रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तदचेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति । जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात् । यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते इन्द्रियैर्न परिच्छिद्यते । यत एवं ततः केन सह ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

एवं बहिर्विकल्पं परित्याज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

टीका—**परै**रुपाध्यायादिभिरहं **यत्प्रतिपाद्यः परान्** शिष्यादीनहं **यत्प्रतिपादये** तत्सर्वं **मे उन्मत्तचेष्टितं** मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः । कुत एतत् ? **यदहं निर्विकल्पको** यद्यस्मादहमात्मा निर्विकल्पक एतैर्वचनविकल्पैरग्राह्यः ॥१९॥

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

टीका—**यत्** शुद्धात्मस्वरूपं । **अग्राह्यं** कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं । **न गृह्णाति** आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति । **गृहीत**मनन्तज्ञानादिस्वरूपं । **नैव मुञ्चति** कदाचिन्न परित्यजति । तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति ? **जानाति** । किं विशिष्टं तत् ? **सर्वं** चेतनमचेतनं वा वस्तु । कथं जानाति ? **सर्वथा** द्रव्यपर्यायादिसर्वप्रकारेण । **त**दित्थम्भूतं स्वरूपं **स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनग्राह्यम् **अह**मात्मा **अस्मि** भवामि ॥२०॥

इत्थं भूतात्मपरिज्ञानात्पूर्वं कीदृशं मम चेष्टितमित्याह—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

टीका—**उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः** पुरुषोऽयमित्युत्पन्ना भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तुस्तस्य । **स्थाणौ** स्थाणुविषये । **यद्वद्**यत्प्रकारेण । **विचेष्टितं** विविधमुपकारापकारादिरूपं चेष्टितं विपरीतं वा चेष्टितं । तद्वत् तत्प्रकारेण । **मे चेष्टितं** । क्व ? **देहादिषु** । कस्मात् ? **आत्मविभ्रमात्** आत्मविपर्यासात् । कदा ? **पूर्वम्** उक्तप्रकारात्मस्वरूपपरिज्ञानात् ॥२१॥

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह—

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

टीका—**असौ** उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः **पुरुषाग्रहे** पुरुषाभिनिवेशे **निवृत्ते** विनष्टे सति **यथा** येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकारापकाराद्युद्यमकरणभूतेनपरित्यागप्रकारेण । **चेष्टते** प्रवर्तते । **तथाचेष्टोऽस्मि** तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथाचेष्टोऽस्मि भवाम्यहम् । क्व ? **देहादौ** । किंविशिष्टः ? **विनिवृत्तात्मविभ्रमः** विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य । क्व ? **देहादौ** ॥२२॥

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिवृत्त्यर्थं तद्विविक्तासाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

टीका—**येनात्मना** चैतन्यस्वरूपेण "इत्थंभावे तृतीया" । **अहमनुभूये** । केन कर्त्रा ? **आत्मनैव** अनन्येन । केन कारणभूतेन ? **आत्मना** स्वसंवेदनस्वभावेन । क्व ? **आत्मनि** स्वस्वरूपे । **सोऽहं** इत्थंभूतस्वरूपोऽहं । **न तत्** न नपुंसकं । **न सा** न स्त्री । **नासौ** न पुमान् अहं । तथा **नैको न द्वौ न वा बहु**रहं । स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितदेहस्वरूपत्वात् ॥२३॥

येनात्मना त्वमनुभूयसे स कीदृशः इत्याह—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

टीका—यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य अभावे अनुपलम्भे । **सुषुप्तो** यथावत्पदार्थपरिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः । **यद्भावे** यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे । **पुनर्व्युत्थितः** विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः । किंविशिष्टं तत्स्वरूपं ? **अतीन्द्रियं** इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च । **अनिर्देश्यं** शब्दविकल्पागोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा

परमात्मानं भावयेत् । कथंभूतं ? **सर्वसंकल्पवर्जितं** विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत् ॥२७॥

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि* स्थितिम् ॥२८॥

टीका—योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा **सोऽहमित्येवमात्तसंस्कारः** आत्तो गृहीतः संस्कारो वासना येन । कया कस्मिन् ? **भावनया तस्मिन्** परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन । **पुनरित्यन्तर्गर्भितवीप्सार्थः** । पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया । **तत्रैव** परमात्मन्येव **दृढसंस्कारात्** अविचलवासनावशात् । **लभते** प्राप्नोति ध्याता । हि स्फुटम् । **आत्मनि स्थितिं** आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपतां वा ॥२८॥

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

टीका—**मूढात्मा** बहिरात्मा । **यत्र** शरीरपुत्रकलत्रादिषु । **विश्वस्तो**ऽवंचकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः—मदीया येते अहमेतेषामिति बुद्धिं गत इत्यर्थः । **ततो नान्यद्भयास्पदं** ततः शरीरादेर्नान्यद्भयास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम् । **यतो भीतः** परमात्मस्वरूपसंवेदनाद्भीतः त्रस्तः । **ततो नान्यदभयस्थानं** ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम् । सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥२९॥

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह –

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

---

* ह्यात्मनः इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

टीका—संयम्य स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य। कानि? सर्वेन्द्रियाणि पञ्चापीन्द्रियाणि। तदनन्तरं स्तिमितेन स्थिरीभूतेन। अन्तरात्मना मनसा। यत्स्वरूपं भाति। किं कुर्वतः? क्षणं पश्यतः क्षणमात्रमनुभवतः बहुतरकालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनो निरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति तत्तत्त्वं तद्रूपं तत्त्वं स्वरूपं परमात्मनः ॥३०॥

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपप्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः* कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

टीका—यः प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा स एवाहं। योऽहं यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा स परमः परमात्मा। ततो यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततोऽहमेव मया उपास्य आराध्यः। नान्यः कश्चिन्मयोपास्य इति स्थितिः। एवं स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था ॥३१॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥

टीका—मामात्मानमहं प्रपन्नः प्राप्तोऽस्मि भवामि। किं कृत्वा? प्रच्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः? विषयेभ्यः। केन कृत्वा? मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना। क्व स्थितं मां प्रपन्नोऽहं? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम्। कथम्भूतं मां? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम्। पुनरपि कथम्भूतम्? परमानन्दनिर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृतं सुखीभूतम्। अथवा परमानन्दनिर्वृतोऽहम् ॥३२॥

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३२॥

---

* 'नाज्ञः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ।

टीका—यः प्रतिपन्नाद् देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण न वेत्ति। किं विशिष्टम् ? **अव्ययं** अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम्। स प्रतिपन्नान्न **निर्वाणं लभते।** किं कृत्वा ? **तप्त्वाऽपि।** किं तत् ? **परमं तपः** ॥३३॥

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

टीका—आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावाल्हादश्च परमप्रसत्तिस्तेन निर्वृतः सुखीभूतः सन् **तपसा** द्वादशविधेन कृत्वा। **दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि** दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि **न खिद्यते** न खेदं गच्छति ॥३४॥

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं* नेतरो जनः ॥३५॥

टीका—रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा। **यन्मनोजलं** मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम्। स आत्मा। **पश्यति। आत्मनस्तत्त्वमात्मनः** स्वरूपम्। **स तत्त्वम्।** स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम्। **नेतरो जनः** रागादि परिणतः [अन्यः अनात्मदर्शी जनः] तत्त्वं न भवति ॥३५॥

कि पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

टीका—**अविक्षिप्तं** रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसाय-

---

* तत्तत्त्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके।

परिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम् । इत्थंभुतं **मनः तत्त्वं** वास्तवं रूप-**मात्मनः** । **विक्षिप्तं** उक्तविपरीतं मनो **भ्रान्तिरात्मस्वरूपं** न भवति । यत एवं तस्मात् **धारयेत्** किं तत् ? मनः । कथम्भूतम् ? **अविक्षिप्तं** । **विक्षिप्तं** पुनस्तत् नाश्रयेन्न धारयेत् ॥३६॥

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

टीका—शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा । **अवशं** विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायतमित्यर्थः । **क्षिप्यते** विक्षिप्तं भवति **मनः** । **तदेव** मनः **ज्ञानसंस्कारै**-रात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः । **स्वतः** स्वयमेव । **तत्त्वे** आत्मस्वरूपे **अवतिष्ठते** ॥३७॥

चित्तस्य विक्षेपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

टीका—अपमानो महत्त्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीनां ते **अपमानादयो** भवन्ति । **यस्य चेतसो विक्षेपो** रागादिपरिणतिर्भवति । **यस्य** पुनश्चेतसो **न क्षेपो** विक्षेपो नास्ति । **तस्य नापमानादयो** भवन्ति ॥३८॥

अपमानादीनां चापगमे उपायमाह—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ॥
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

टीका—**मोहा**न्मोहनीयकर्मोदयात् । **यदा प्रजायेते** उत्पद्येते । कौ ? **रागद्वेषौ** । कस्य ? **तपस्विनः** । **तदैव** रागद्वेषोदयकाल एव । **आत्मानं स्वस्थं** बाह्यविषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं **भावयेत्** । **शाम्यत** उपशमं गच्छतः । रागद्वेषौ । **क्षणात्** क्षणमात्रेण ॥३९॥

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

टीका—यत्रात्मीये परकीये वा काये वा शरीरेइन्द्रियविषयसङ्घाते । **मुनेः प्रेम** स्नेहः । ततः तायात् **प्रच्याव्य** व्यावर्त्य । देहिनं आत्मानम् । कया ? **बुद्धया** विवेकज्ञानेन । पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्द-मये । काये आत्मस्वरूपे । **योजयेत्** । कया कृत्वा ? बुद्धया अन्तर्दृष्टया । ततः किं भवति ? **प्रेम नश्यति** कायस्नेहो न भवति ॥४०॥

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

टीका—**आत्मविभ्रमजं** आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं । तस्माज्जातं यत् दुःखं तत्प्रशाम्यति । कस्मात् ? **आत्मज्ञानात्** शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात् । ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्तिसिद्धेरेतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—नेत्यादि । तत्र आत्मस्वरूपे **अयताः** अयत्नपराः । **न निर्वान्ति** न निर्वाणं गच्छंति सुखिनो वा न भवन्ति । **कृत्वापि** तप्त्वाऽपि । किं तत् ? **परमं तपः** दुर्द्धरानुष्ठानम् ॥४१॥

तच्च कुर्वाणो वहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति ।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

टीका—देहे उत्पन्नात्ममतिर्बहिरात्मा । **अभिवाञ्छति** अभिलषति । किं तत् ? **शुभं शरीरं** । **दिव्यांश्च** उत्तमान् स्वर्गसम्बन्धिनो वा विषयान् अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—**तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्** । **तत्त्वज्ञानी** विवेकी अन्तरात्मा । **ततः** शरीरादेः । **च्युतिं** व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति ॥४२॥

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वं दर्शयन्नाह—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

टीका—परत्र शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा । स्वस्मादात्मस्वरूपात् । च्युतो भ्रष्टः सन् । बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं । असंशयं यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः । स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मितः बुद्धोऽन्तरात्मा । परस्माच्छरीरादेः च्युत्वा पृथग्भूत्वा । मुच्यते सकलकर्मबन्धरहितो भवति ॥४३॥

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

टीका—दृश्यमानं शरीरादिकं । किं विशिष्टं ? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिङ्गं सत् । मूढो बहिरात्मा । इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन । यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते । न पुनस्त्रिलिङ्गतया । तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात् । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपं ? निष्पन्नमनादिसंसिद्धम् तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानाऽगोचरम् ॥४४॥

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहं' मित्यादिरूपं, तस्य कदाचिदभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

टीका—आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि । तथा विविक्तं शरीरादिभ्यो-भिन्नं भावयन्नपि उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये । भूयोऽपि पुनरपि । भ्रान्तिं गच्छति । कस्मात् ? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्थाभावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारो वासना तस्मात् ॥४५॥

भूयो भ्रान्ति गतोऽसौ कथं मां त्यजेदित्याह—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

टीका—इदं शरीरादिकं **दृश्यमिन्द्रियैः** प्रतीयमानं । **अचेतनं** जडं रोषतोषादिकं कृतं न जानन्तीत्यर्थः **यच्चेतनमात्मस्वरूपं** तददृश्यमिन्द्रियग्राह्यं न भवति । **ततः** यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं चेतनं स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विषयमेव न भवति ततः **क्व रुष्यामि क्व तुष्याम्यहं** । **अतः** यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते **अतः मध्यस्थः** उदासीनोऽहं **भवामि** ॥४६॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

टीका—मूढा बहिरात्मा त्यागादाने करोति । क्व ? बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति । रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति । **आत्मवित्** अन्तरात्मा पुनरध्यात्मं स्वात्मरूप एव त्यागादाने करोति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा । स्वीकारश्चिदानन्दादेः । यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य **अन्तर्बहिर्वा नोपादानं** तथा **न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा** ॥४७॥

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

टीका—**आत्मानं युञ्जीत** सम्बद्धं कुर्यात् । केन सह ? **मनसा** मानसज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः । **वाक्कायाभ्यां** तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः । एतच्च कुर्वाणो व्यवहारं तु प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा । **वाक्काययोजितं**

वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं। केन सह? मनसा सह मनस्यारोपित व्यवहारं मनसा त्यजेत् चित्तेन न चिन्तयेत् ॥४८॥

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह—

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

टीका—**देहात्मदृष्टीनां** वहिरात्मनां **जगत्** पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो **विश्वास्य**मवञ्चकं। **च रम्यमेव** रमणीयमेव प्रतिभाति। **स्वात्मन्येव** स्वस्वरूपे एवा**त्मदृष्टीनां** अन्तरात्मनां **क्व विश्वासः क्व वा रतिः**? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः ॥४९॥

नन्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

टीका—**चिरं** बहुतरं कालं **बुद्धौ न धारयेत्**। किं तत्? **कार्यं**। कथम्भूतम्? **पर**मन्यत्। कस्मात्? **आत्मज्ञानात्**। आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः परमपि **किञ्चिद्** भोजनव्याख्यानादिकं **वाक्कायाभ्यां कुर्यात्**। कस्मात्? **अर्थवशात्** स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात्। किंविशिष्टः? **अतत्परः** स्तदनासक्तः ॥५०॥

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्न शरीरादिकमित्याह—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

टीका—**यच्**छरीरादिकमि**न्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति** मदीयं रूपं तन्न भवति। तर्हि किं मम रूपम्? **तदस्तु ज्योतिरुत्तमं** ज्योतिर्ज्ञानमुत्तममतीन्द्रियम्। तथा **सानन्दं** परमप्रसत्तिसमुद्भूतसुखसमन्वितम्। एवं विधं **ज्योति**-

रन्तः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूपमस्तु भवतु किंविशिष्टः पश्यामि ? नियतेन्द्रियो नियन्त्रितेन्द्रियः ॥५१॥

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनो रूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि ।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

टीका—बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति । कस्य ? आरब्धयोगस्य प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य । अथ अहो । आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य भवति । भावितात्मनो यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य । बहिरेव बाह्यविषयेष्वेवाऽसुखं भवति । अथ अहो । सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति ॥५२॥

तद्भावनां चेत्थं कुर्यादित्याह—

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

टीका—तत् आत्मस्वरूपं ब्रूयात् परं प्रतिपादयेत् । तदात्मस्वरूपं परान् विदितात्मस्वरूपान् पृच्छेत् । तथा तदात्मस्वरूपं इच्छेत् परमार्थतः सन् मन्यते । तत्परो भवेत् आत्मस्वरूपभावनातत्परो भवेत् । येनात्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन । अविद्यामयं स्वरूपं बहिरात्मस्वरूपम् । त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं परमात्मस्वरूपं व्रजेत् ॥५३॥

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसम्भवात् "तद्ब्रूयादि"त्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥५४॥

टीका—सन्धत्ते आरोपयति । कं आत्मानम् । क्व ? शरीरे वाचि च । कोऽसौ ? मूढः वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो

बहिरात्मा। तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा **पुनः** एषां वाक्शरीरात्मना **तत्त्वं** स्वरूपं **पृथक्** परस्परभिन्नं निबुद्धयते निश्चिनोति ॥५४॥

एवमवबुद्धयमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चित्तस्योपकारकमस्तीत्याह—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

टीका—**इन्द्रियार्थेषु** पञ्चेन्द्रियविषयेषु मध्ये **न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्करमुपकारकम्** । कस्य ? **आत्मनः** । यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति । **तथापि रमते** रतिं करोति । कोऽसौ ? **बालो** बहिरात्मा **तत्रैव** इन्द्रियार्थेष्वेव । कस्मात् ? **अज्ञानभावनात्** मिथ्यात्वसंस्कारवशात् अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात् ॥५५॥

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मानो भवन्तीत्याह—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

टीका—**चिरमनादिकालं मूढात्मानो** बहिरात्मानः **सुषुप्ता** अतीव जडतां गताः । केषु ? **कुयोनिषु** नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयोनिष्वधिकरणभूतेषु । कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः ? **तमसि** अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सति एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिपूत्पद्य कदाचिद्दैववशात् बुध्यन्ते तदा **ममाहमिति जाग्रति** । केषु ? **अनात्मीयात्मभूतेषु**—अनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु ममैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति । **अनात्मभूतेषु** शरीरादिषु अहमेवैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति ॥५६॥

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे* व्यवस्थितः ॥५७॥

---

* 'आत्मतत्त्वव्यवस्थित.' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

टीका—आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं अनात्मचेतसा इदं ममात्मा न भवतीति बुद्धया अन्तरात्मा पश्येत् । निरन्तरं सर्वदा । तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्धया पश्येत् । किं विशिष्टाः ? आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥५७॥

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मनां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

टीका—मूढात्मानो मां आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं यथा न जानन्ति मूढात्मत्वात् । तथा ज्ञापितमपि मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति । ततस्तेषां सर्वथा परिज्ञानाभावात् । तेषां मूढात्मनां सम्बंधित्वेन वृथा मे ज्ञापनश्रमो विफलो मे प्रतिपादनप्रयासः ॥५८॥

किंच—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

टीका—यत् विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा बोधयितुं ज्ञापयितुमिच्छामि । तन्नाहं तत्स्वरूपं, नाहमात्मस्वरूपं परमार्थतो भवामि । यदहं पुनः यत्पुनरहं चिदानन्दात्मकं स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं । तदपि ग्राह्यं नान्यस्य स्वसंवेदनेन तदनुभूयत इत्यर्थ. । तत्किमन्यस्य बोधये तत्तस्मात्किं किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेऽहम् ॥५९॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति । मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

टीका—बहिः शरीराद्यर्थे तुष्यति प्रीतिं करोति । कोऽसौ ? मूढात्मा ।

कथम्भूतः ? पिहितज्योतिर्मोहाभिभूतज्ञानः । क्व ? अन्तरे अन्तस्तत्त्वविषये । प्रबुद्धात्मा मोहाभिभूतज्ञानः अन्तस्तुष्यति स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति । किं विशिष्टः सन् ? बहिर्व्यावृत्तकौतुकः शरीरादौ निवृत्तानुरागः ॥६०॥

कुतोऽसौ शरीरादिविषये निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

टीका—सुखदुःखानि न जानन्ति । कानि शरीराणि जडत्वात् । अबुद्धयो बहिरात्मानः । तथापि यद्यपि जानन्ति तथापि । अत्रैव शरीरादावेव कुर्वते । कां ? निग्रहानुग्रहधियं द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धिं रागवशात्कटककटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम् ॥६१॥

यावच्च शरीरादावात्मबुद्ध्या प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरिति दर्शयन्नाह—

यावद् स्वबुद्ध्या गृण्हीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

टीका—स्वबुद्ध्या आत्मबुद्ध्या यावद् गृण्हीयात् । किं ? त्रयम् । केषाम् ? कायवाक्चेतसां सम्बन्धमिति पाठः । तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृ । आत्मनि यावत्सम्बन्धं गृण्हीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः । तावत्संसारः । एतेषां कायवाक्चेतसां भेदाभ्यासे तु आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृत्तिः मुक्तिः ॥६२॥

शरीरादावात्मनो भेदाभ्यासे च शरीरदृढतादीनात्मनो दृढतादिकं मन्यते इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह—

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

टीका—घने निविडावयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं घनं दृढावयवं

यथा बुधो न मन्यते । तथा स्वदेहेऽपि घने दृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते ॥६३॥

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

टीका—जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृते यथाऽऽत्मानं जीर्णं न मन्यते । तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः ॥६४॥

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

टीका—प्रावृते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहेऽपि नष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

टीका—रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुम्भादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ॥६६॥

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

टीका—यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते । कथम्भूतं ? **निःस्पन्देन समं** निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं । कुतः तेन तत्समं ? **अप्रज्ञं** जडमचेतनं यतः । तथा **अक्रियाभोगं** क्रिया पदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र यस्यैवं तत्प्रतिभासते स किं करोति ? **स शमं याति** शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति । कथम्भूतं शमं ? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि सम्बंध-

नीयम् । क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः । भोग इन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवः विषयोत्सवः । तौ न विद्येते यत्र तमित्थम्भूतं शमं स याति । नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा ॥६७॥

सोऽप्येवं शरीरादिभिन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यत इत्याह—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

टीका—शरीरमेव कंचुकं तेन संवृतः सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव विग्रहः स्वरूप यस्य । शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्यते । तस्यैव मुख्यवृत्त्या तदावरकत्वोपपत्तेः । इत्थंभूतो बहिरात्मा नात्मानं बुध्यते तस्मादात्मस्वरूपानवबोधात् अतिचिरं बहुतरकालं भवे संसारे भ्रमति ॥६८॥

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुद्ध्यन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुद्ध्यन्ते इत्याह—

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

टीका—त देहात्मान प्रपद्यन्ते । के ते ? अबुद्धयो बहिरात्मानः । कया कृत्वा ? स्थितिभ्रान्त्या । क्व ? देहे । कथम्भूते देहे ? व्यूहे समूहे । केषां ? अणूनां परमाणूनां । किं विशिष्टानां ? प्रविशद्गलतां अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च । पुनरपि कथम्भूते ? समाकृतौ समानाकारे सदृशा परम्परोत्पादेन । आत्मना सहैकक्षेत्रे समानावगाहेन वा । इत्थम्भूते देहे वा स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया ॥ ६९॥

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद्भिन्नं भावयेदित्याह—

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

टीका— गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोवाऽहमित्यनेन प्रकारेणाङ्गेन विशेपणेन अविशेपयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयत् चित्तेऽविचलं भावयेत् नित्यं सर्वदा । कथम्भूतं ? केवलज्ञप्तिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं । अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥७०॥

यश्चैवं विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥

टीका—एकान्तिकी अवश्यम्भाविनी तस्यान्तरात्मानो मुक्तिः । यस्य चित्ते अविचला धृतिः आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविपया प्रसत्तिर्वा यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः ॥७१॥

चित्तेऽचला धृतिश्च लोकसंसर्ग परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह—

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

टीका—जनेभ्योवाक् वचनप्रवृत्तिर्भवति । प्रवृत्तेः स्पन्दो मनसः व्यग्रतामानसे भवति । तस्यात्मनः स्पन्दाच्चित्तविभ्रमाः नाना विकल्पप्रवृत्तयो भवन्ति । यत एवं ततस्तस्मात् योगी त्यजेत् कं ? संसर्ग सम्बन्धम् कैः सह ? जनैः ॥७२॥

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

टीका—ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासः स्थानं अनात्मदर्शिनामलब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां, दृष्टात्मनामुपलब्धात्मस्वरूपाणां निवासस्तु विमुक्तात्मैव रागादिरहितो विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः ॥७३॥

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

टीका—देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य **बीजं** कारणं किं? **आत्मभावना** । क्व ? **देहेऽस्मिन्** अस्मिन् कर्मवशादगृहीते देहे । **विदेहनिष्पत्तेः** विदेहस्य सर्वथा देहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेः पुनर्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च* ।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

टीका—**जन्म** संसारं **नयति** प्रापयति । कं ? **आत्मानं** । कोऽसौ ? **आत्मैव** देहादौ दृढात्मभावनावशात् । **निर्वाणमेव च** आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्षसद्भावात् । यत एवं **तस्मात्** परमार्थतो **गुरुरात्मात्मनः** । **नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः** । व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु ॥७५॥

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम् ॥७६॥

टीका—**देहादौ दृढात्मबुद्धि**रविचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा । **उत्पश्यन**वलोकयन् । **आत्मनो नाशं** मरणं **मित्रादिभिर्वियोगं च** मम भवति इति बुद्धयमानो **मरणाद्बिभेति भृश**मत्यर्थम् ॥७६॥

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥७७॥

टीका—**आत्मन्ये**वात्मस्वरूप एव **आत्मधीः** अन्तरात्मा **शरीरगतिं** शरीरविनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां **आत्मनो अन्यां** भिन्नां

---

* निर्वाणमेव 'वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके ।

निर्भयं यथा भवत्येवं मन्यते। शरीरविनाशोत्पादौ आत्मनो विनाशोत्पादौ न मन्यत इत्यर्थः। वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहणमिव ॥७७॥

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरपरः स न बुध्यत इत्याह—

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

टीका—व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुषुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगोचरे ॥७८॥

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

टीका—आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेहयोरन्तरविज्ञानात् भेदविज्ञानात् अच्युतो मुक्तो भवेत्। ततोऽच्युतो भवन्नप्यभ्यासाद्भेदज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात् ॥७९॥

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगावस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

टीका—पूर्वं प्रथमं दृष्टात्मतत्त्वस्य देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य प्रारब्धयोगिनः विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिंतनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत् नानाबाह्यविकल्पैरुपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते। पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां स्वभ्यस्तात्मधियः सुष्टुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्म-

स्वरूपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् काष्ठपाषाणरूपवत्प्रतिभाति । न तु परमौदासीन्यावलम्बात् ॥८०॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम् । शरीराद्भेदेनात्मनस्तत्स्वस्वरूपविद्भ्यः श्रवणात्स्वयं वाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

श्रृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

टीका—**अन्यत** उपाध्यायादेः **कामं** अत्यर्थ **श्रृणवन्नपि कलेवराद्भिन्न**मात्मानमाकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति **वदन्नपि यावत्कलेवराद्भिन्नमात्मानं न भावयेत । तावन्न मोक्षभाक्** मोक्षभाजनं तावन्न भवेत् ॥८१॥

तद्भावनायां च प्रवृत्तोऽसौ किं कुर्यादित्याह—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

टीका—**देहाद्व्यावृत्य** शरीरात्पृथक्कृत्वा **आत्मानं** स्वस्वरूपं **आत्मनि** स्थितं **तथैव भावयेत्** शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत् । **यथा पुनः स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां **देहे** उपलब्धेपि तत्र **आत्मानं न योजयेत्** देहमात्मतया नाध्यवस्येत् ॥८२॥

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि । यतः—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

टीका—**अपुण्यम**धर्मः **अव्रतै**र्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति । **पुण्यं** धर्मो **व्रतैः** हिंसादिविरतिविकल्पैः परिणतस्य भवति । **मोक्षः** पुनस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्व्ययो विनाशो । यथैव हि लोहश्रृङ्खला बंधहेतुस्तथा सुवर्णश्रृङ्खलाऽपि । अतो यथोभयश्रृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति ।

ततस्तस्मात् मोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽव्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि ॥८३॥

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

टीका—अव्रतानि हिंसादीनि प्रथमतः परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो भवेत् । पश्चात्तान्यपि त्यजेत् । किं कृत्वा ? सम्प्राप्य । किं तत् ? परमं पदं परमवीतरागतालक्षणं क्षीणकषायगुणस्थानं । कस्य तत्पदं ? आत्मनः ॥८४॥

कुतोऽव्रत-व्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह—

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

टीका—यदुत्प्रेक्षाजालं चिन्ताजालं । कथम्भूतं ? अन्तर्जल्पसंपृक्तं अन्तर्वचनव्यापारोपेतं । आत्मनो दुःखस्य मूलं कारणं । तन्नाशे तस्योत्प्रेक्षाजालस्य विनाशे । इष्टमभिलषितं यत्पदं तच्छिष्टं प्रतिपादितम् ।।८५॥

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

टीका—अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं व्रतमादाय विनाशयेत् । व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं ज्ञानपरायणो ज्ञानभावनानिष्ठो भूत्वा परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत् । सयोगिजिनावस्थायां परात्मज्ञानसम्पन्नः परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः स्वयमेव गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः परः सिद्धस्वरूपः परमात्मा भवेत् ॥८६॥

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहाः ॥८७॥

टीका—लिङ्गं जटाधारणनग्नत्वादि देहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं । देह एवात्मनो भवः संसारः । यत एवं तस्माद्ये लिंगकृताग्रहाः लिंगमेव मुक्तेर्हेतुरिति कृताभिनिवेशास्ते न मुच्यंते । कस्मात् भवात् ॥८७॥

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरत. स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

टीका—जातिर्ब्राह्मणत्वादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं ॥८८॥

तर्हि ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्तिं प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

टीका—जातिलिंगरूपोविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबंधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंग मुक्तहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

टीका—यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय भोगेभ्यः स्रग्वनितादिभ्यो निवर्तन्ते । तथा यदवाप्तये यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते । प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव शरीरे आबद्धे एव कुर्वन्ति द्वेषं पुनरन्यत्र परमवीतरागत्वे । के ते ? मोहिनो मोहवन्तः ॥९०॥

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह—

अन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

टीका—अनन्तरज्ञो भेदाग्राहकः पुरुषो यथा **पंगोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते** आरोपयति। कस्मात् **संयोगात्** पंग्वन्धयो सम्बन्धमाश्रित्य। तद्वत् तथा देहात्मनोः संयोगादात्मनो दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते अंगं पश्यतीति [मन्यते] मोहाभिभूतो वहिरात्मा ॥९१॥

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

टीका—**दृष्टभेदः** पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो **यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत्। तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत्।** कोऽसौ? **दृष्टात्मनः** देहभेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥९२॥

वहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह—

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९४॥

टीका—**सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः** प्रतिभासते। केषाम्? **अनात्मदर्शिनां** यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां वहिरात्मनाम्। **आत्मदर्शिनो**ऽन्तरात्मनः पुनरक्षीणदोषस्य **मोहाक्रान्तस्य** वहिरात्मनः सम्बंधिन्यः **सर्वावस्थाः** सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि **विभ्रमः** प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासाभावात्। अथवा—**सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव** एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि **न विभ्रमः** केषाम्? **आत्मदर्शिनां** दृढतराभ्यासात्तदवस्थायामपि आत्मनि तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् यतस्तत्रेन्द्रियणां स्वविषये निद्रया प्रतिवन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिवन्धादिति। तर्हि कस्याऽसौ **विभ्रमो**

भवति ? **अक्षीणदोषस्य** बहिरात्मनः। कथम्भूतस्य ? **सर्वावस्थात्मदर्शिनः** सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्यत्येवं शीलस्य ॥९३॥

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिर्भव्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

टीका—**न मुच्यते** न कर्मरहितो भवति। कोऽसौ ? **देहात्मदृष्टिर्व**हिरात्मा। कथम्भूतोऽपि? **विदिताशेषशास्त्रोऽपि** परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि **देहात्मदृष्टिर्यतः** देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः पुनरपि कथम्भूतोऽपि ? **जाग्रदपि** निद्रयाऽनभिभूतोऽपि। यस्तु **ज्ञातात्मा** परिज्ञातात्मस्वरूपः स **सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते** विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढतराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥९४॥

कुतस्तदा तदवैकल्यमित्याह—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

टीका—**यत्रैव** यस्मिन्नेव विषये **आहितधीः** दत्तावधाना बुद्धिः। "यत्रात्महितधीरति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्राहितधीरिति।" स हितमुपकारक इति बुद्धिः। कस्य ? **पुंसः**। **श्रद्धा** रुचिस्तस्य **तत्रैव** तस्मिन्नेव विषये जायते। **यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते** आसक्तं भवति ॥९५॥

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

टीका—यत्र यस्मिन्विषये **अनाहितधीरदत्तावधाना** बुद्धिः। 'यत्रैवा-[हितधीरति च पाठः यत्र च अहितधीरनुपकारकबुद्धिः।" कस्य ? **पुंसः**।

तस्माद्विषयात्सकाशात् श्रद्धा निवर्तते । यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः तस्मिन् विषये लय आसक्तिस्तल्लयः कुतो ? नैव कुतश्चिदपि ॥९६॥

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

टीका—**भिन्नात्मानमा**राधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं **उपास्या**राध्य **आत्मा** आराधकः पुरुषः **परः** परमात्मा **भवति तादृशो**ऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—वर्तिरित्यादि । दीपाद्भिन्ना **वर्तिर्यथा दीपमुपास्य** प्राप्य **तादृशी भवति** दीपरूपा भवति ॥९७॥

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥९८॥

टीका—**अथवा आत्मानमेव** चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमय**मुपास्य आत्मा परमः** परमात्मा **जायते** । अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह—मथित्वेत्यादि । **यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा** घर्षयित्वा **तरुरात्मा तरु**रूपः स्वभावः स्वत एवा**ग्निर्जायते** ॥९८॥

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह—

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम् ।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥९९॥

टीका—**इति** एवमुक्तप्रकारेण **इदं** भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं **भावयेत् नित्यं** सर्वदा । ततः किं भवति ? तत्पदं अवाप्नोति । किं तत्पदं मोक्षस्थानं । कथम्भूतं ? **अवाचांगोचरं** वचनैरनिर्देश्यं । कथं तत्प्राप्नोति ? **स्वत एव** आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिबाह्यनिमित्तात् । **यतः** प्राप्तात् तत्पदा**न्नावर्तते** संसारे **पुनर्न** भ्रमति ॥९९॥

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य तत्पदप्राप्तिः स्यात्। न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरात्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकाः। सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥१००॥

टीका—चित्तत्त्वं चेतनालक्षणं तत्त्वं यदि **भूतजं** पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण साध्यं निर्वाणं न भवति। एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तियोगस्यात्मन एव तन्मते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः। सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूप संवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं। सता शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरूपायमुक्तिप्रसिद्धेः अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम्। तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं। भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची। मनोवाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन् जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मबंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्धत्वात्। अथवा **अन्यथा** प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्त्वं न भवति। तदा **योगतः** स्वरूपसंवेदनात्मकचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं। यत एवं **तस्मात् क्वचिदप्यवस्था-**विशेषे दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा **योगिनां दुःखं न** भवति। आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःखसंवेदनासम्भवात् ॥१००॥

नन्वात्मना मरणरूपविनाशदुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदाऽस्तित्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

यथा यंत्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियायां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता । तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते । केषु ? **कर्मसु** क्रियासु कथम्भूतेषु ? **स्वेषु** स्वसाध्येषु ॥१०३॥

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुरुत् इत्याह—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः ।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

टीका—**तानि** शरीरयंत्राणि **साक्षाणि** इंद्रियसहितानि **आत्मनि समारोप्य** गौरोऽहं सुलोचनोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य **जडो** वहिरात्मा **असुखं** सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते । **विद्वा**नन्तरात्मा **पुनः प्राप्नोति** किं ? तत्**परमं पदं** मोक्षं । किं कृत्वा ? **त्यक्त्वा** ? कं ? **आरोपं** शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम् ॥१०४॥

कथमसौ तं त्यजतीत्याह—अथवा स्वकृतग्रन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्मुक्त्वेत्याह—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥१०५॥

टीका—**उपैति** प्राप्नोति । किं तत् ? **सुखं** कथम्भूतं ? **ज्योतिर्मयं** ज्ञानात्मक । किं विशिष्टः सन्नसौ तदुपैति ? **जननाद्विमुक्तः** संसाराद्विशेषेण मुक्तः । ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतः सम्भवति ? **परमात्मनिष्ठः** परमात्मस्वरुपसंवेदकः किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात् ? **मुक्त्वा** । कां ? **परबुद्धि अहंधियं च** स्वात्मबुद्धि च । क्व ? **परत्र** शरीरादौ । कथम्भूतां ताम् ? **संसार-दुःखजननीं** चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां । यतस्तथाभूतां तां त्यजेत् । कि

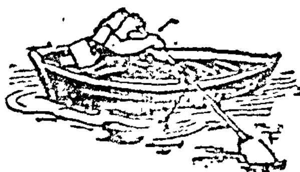
कृत्वा ? **अविगम्य** । किं तत् ? समाधितंत्रं समाधेः परमात्मस्वरूपसंवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनताया वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं । कथम्भूतं तत् ? तन्मार्गं तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति ॥१०५॥

टीका-प्रशस्तिः

येनात्मा वहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो,
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयाऽमलवपुः सद्धयानतः कीर्तितः ।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो,
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥१॥

इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचिता समाधिशतकटीका समाप्ता॥

॥ मूलविद्री के मठ की प्रतिमें उक्त पुष्पिका-वाक्य निम्न-प्रकार पाया जाता है :—'इति श्रीजयसिंहदेव राज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापर परमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन समाधिशतकटीका कृतेति ।।" इस वाक्य से प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि न्यायग्रन्थोंके कर्ता धारानिवासी प्रभाचन्द्र ही जान पड़ते हैं ।



ॐ

श्रीमद्देवनन्द्यपरनाम पूज्यपाद स्वामिविरचितः

इष्टोपदेशः

श्रीपण्डित-आशाधर विरचित टीकोपेतः

(टीकाकर्तुः मंगलाचरणम्)

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म-संविदे ।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्राऽऽदौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमोस्करोति इति परमात्मगुणार्थी ग्रन्थकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा :—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

टीका—अस्तु भवतु। किं तत्? नमः—नमस्कारः कस्मै? **तस्मै परमात्मने**—परम अनाध्येया अहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा, तस्मै। किंविशिष्टाय, संज्ञानरूपाय (संज्ञानं) सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महृतृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च सम्पूर्णज्ञानं स्व परावबोधस्तदेव रूप यस्य-तस्मै। एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह—यस्य अभूत् कात्स्नौ, स्वभावाऽऽप्तिः—स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः—कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थितिरित्यर्थः। केन? स्वयं-सम्पूर्णरत्नत्रयात्मनाऽऽत्मना। क्व सति?

अभावे—शक्तिरूपतया विनाशे । कस्य ? **कृत्स्नकर्मणः**—कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यभावरूपस्य कर्मण: आत्मपारतंत्र्यनिमित्तस्य ।।१।।

स्वस्य स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति ? स्वस्यात्मनः—अथ शिष्य: प्राह—स्वयं आत्मना **स्वरूपोपलब्धिः** स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धि: कथं केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति ? अत्राऽऽचार्य: समाधत्ते:—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (यथा) ।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

टीका—**मता** अभिप्रेता लोकै: । काऽसौ ? **स्वर्णता** सुवर्णभाव: । कस्य ? **दृषदः** सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य । केन ? **योग्योपादानयोगेन**—योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा । एवमात्मानोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषद: इत्यपि शब्दार्थ: । **मता** कथिता । कासौ ? **आत्मता**—आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं । कस्यां सत्यां ? **द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ** द्रव्यमन्वयिभाव: आदिर्येषां क्षेत्रकालभावनां ते च ते स्वादयश्च सुशब्द: स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च । 'इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव: इति समास:' । सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकाल: सुभाव इत्यर्थ: । सुशब्द: प्रशंसार्थ: **प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां** सम्पत्ति: संपूर्णता तस्यां सत्यां ।।२।।

तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति तन्नेति—अथ शिष्य: प्राह भगवन् ! यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते **तर्हि** व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषा**मानर्थक्यं** निष्फलत्वं स्यादभिप्रेताया: स्वात्मोपलब्धे: सुद्रव्यादिसम्पत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थ: ।

अत्राचार्यो निषेधमाह—**तन्नेति** । वत्स ! यत्त्वया शंकितं व्रतादीनामानर्थक्यं. **तन्न**-तन्न भवति । तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेशक्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वात् एतदेव च व्यक्तीकर्तुं वक्ति :—

ॐ

श्रीमद्देवनन्द्यपरमनाम पूज्यपाद स्वामिविरचितः

इष्टोपदेशः

श्रीपण्डित-आशाधर विरचित टीकोपेतः

(टीकाकर्तुः मंगलाचरणम्)

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म-संविदे ।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्राऽऽदौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमोस्करोति इति परमात्मगुणार्थी ग्रन्थकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा :—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

टीका—अस्तु भवतु । किं तत् ? नमः—नमस्कारः कस्मै ? **तस्मै परमात्मने**—परम अनाध्येया अहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा, तस्मै । किंविशिष्टाय, **संज्ञानरूपाय** (संज्ञानं) सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महंतृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च सम्पूर्णज्ञानं स्व परावबोधस्तदेव रूपं यस्य-तस्मै । एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह—यस्य अभूत् कासौ, **स्वभावाऽऽप्तिः**—स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः—कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थितिरित्यर्थः । केन ? स्वयं–सम्पूर्णरत्नत्रयात्मनाऽऽत्मना । क्व सति ?

अभावे—शक्तिरूपतया विनाशे। कस्य? कृत्स्नकर्मणः—कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यभावरूपस्य कर्मणः आत्मपारतंत्र्यनिमित्तस्य ॥१॥

स्वस्य स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति? स्वस्यात्मनः—अथ शिष्यः प्राह—स्वयं आत्मना स्वरूपोपलब्धिः स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति? अत्राऽऽचार्यः समाधत्ते:—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (यथा)।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

टीका—मता अभिप्रेता लोकैः। काऽसौ? स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य? दृषदः सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य। केन? योग्योपादानयोगेन—योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा। एवमात्मानोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषदः इत्यपि शब्दार्थः। मता कथिता। कासौ? आत्मता—आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं। कस्यां सत्यां? द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयिभावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावनां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। 'इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः इति समासः'। सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः। सुशब्दः प्रशंसार्थः प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां सम्पत्तिः संपूर्णता तस्यां सत्यां ॥२॥

तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति तन्नेति—अथ शिष्यः प्राह भगवन्! यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते तर्हि व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निष्फलत्वं स्यादभिप्रेतायाः स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादिसम्पत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः।

अत्राचार्यो निषेधमाह—तन्नेति। वत्स! यत्त्वया शंकितं व्रतादीनामानर्थक्यं. तन्न-तन्न भवति। तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेश क्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वात् एतदेव च व्यक्तीकर्तुं वक्ति:—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम् ।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

टीका—वरं भवतु । किं तत् ? पदं-स्थानं । किंविशिष्टं ? दैवं-देवानामिदं दैवं, स्वर्गः कैर्हेतुभिः ? व्रतैःव्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिबंधनत्वेन सकलजनसुप्रसिद्धत्वात् । तर्हेिचव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यंतीत्याशंक्याह—नेत्यादि । न नवरं भवति । किंतत् ? पदं, किंविशिष्टं ? नारकं-नरकसंबंधि । कैः ? अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनितपातकैः, वतेतिखेदे कष्टे वा । तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यति इत्याशंकायां तयोर्महदंतरमिति दृष्टान्तेन प्रकटयन्नाह—

'छायेत्यादि' भवति । कोऽसौ, भेदः अन्तरं । किंविशिष्टो ? महान् बृहत् । कयोः, पथिकयोः । किं कुर्वतोः ? स्वकार्यवशान्नगरांतगतं तृतीयं स्वसार्थिकमागच्छंतं पथि प्रतिपालयतोः प्रतीक्षमाणयोः । किंविशिष्टयोः सतोः छायाऽऽतपस्थयोः—छाया च आतपश्च छायातपौ तयोः स्थितयोः । अयमर्थः यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकालं यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादि कृतानि (कुर्वन्) स आत्मा—जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते(न्ते) तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति ॥३॥

एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति—अथ विनेयः पुनराशंकते भगवन् ! एवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिः भावविशुद्ध आंतरोऽनुराग अयुक्ता अनुपपन्ना स्याद्भवेत् । तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवांतरप्राप्यस्य च स्वर्गादिसुखस्य व्रतैकसाध्यत्वात् इति ।

अत्राप्याचार्यः समाधत्ते—तदपिनेति—न केवल व्रतादीनामानर्थक्यं भवेत् किं तर्हि ? तदपि आत्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधुः स्यादित्यर्थः । यतः—

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ॥४॥

टीका—यत्र आत्मनि विषये भावः* प्रणिधानं, कर्त्तादित्ते प्रयच्छति । किं ? तच्छिवं मोक्षं। भावु(व)काय—भव्याय इति शेषः । तस्यात्मविषयस्य शिवदानसमर्थस्यभावस्य **द्यौः** स्वर्गः **कियद्दूरवर्तिनी**— कियद्दूरे किंपरिमाणे व्यवहितदेशे वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः । स्वात्मध्यानोपात्तपुण्यस्य तदेक-फलत्वात् । तथा चोक्तं [तत्त्वानुशासने]—

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।
अनंतशक्तिरात्माऽयं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥
ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—य इत्यादि । **यो** वाहीको **नयति** प्रापयंति किं ? स्ववाह्यं भारं । कां ? **गव्यूतिं** क्रोशयुगं । कथं ? **आशु** शीघ्रं **स किं;क्रोशार्द्धे** स्वभारं नयन् **सीदति** खिद्यते ? न खिद्यत इत्यर्थः । महाशक्तावल्पशक्तेः सुघटत्वात् ।

स्वर्गे गतानां किं फलामिति ? अथैवमात्मभक्तेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते प्रतिपाद्यस्तत्फल जिज्ञासया गुरुं पृच्छति स्पष्टं गुरुरुत्तरयति—

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

टीका—वत्स ! अस्ति, किं तत् ? **सौख्यं** शर्म्म । केषां ? **नाकौकसां** देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामकेंद्रियाणां । क्व वसतां ? **नाके** स्वर्गे न पुनः क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादौ । किमतींद्रियं ? तन्नेत्याह—**हृषीकजं** हृषीकेभ्यः समीहितानंतरमुपस्थितं निजं, निजं विषयमनुभवद्भ्यः स्पर्शनादींद्रियेभ्यः जातं सर्वांगीणाल्हादनाकारतया प्रादुर्भूतं तथा राज्यादिसुखवत्सातकं भविष्यतीत्या-

* प्रणिधाने भावः कर्ता पाठः ।

शंकापनोदार्थमाह—**अनातङ्कं** न विद्यते आतङ्कः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्तक्षोभो यत्र तं तथापि भोगभूमिजसुखवदल्पकालभोग्य भविष्यतीत्याशंकायामाह—**दीर्घकालोपलालितं**—दीर्घकालं सागरोपमपरिच्छिन्नकालं यावदुपलालितमाज्ञाविधेयदेवदेवीस्वविलासिनीभिः क्रियमाणोपचारत्वात् उत्कर्षं प्रापितं । तर्हि क्व केषामिव तद् ? इत्याह—नाके नाकौकसामिव स्वर्गदेवानां यथा अनन्योपममित्यर्थः।

यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं, किमपवर्गप्रार्थनया इति—अत्र शिष्यः प्रतिवतिष्ठते, भगवन् ! यदि चेत् स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे—सुखमस्ति कीदृशं ? उत्कृष्टं मर्त्यादि सुखातिशायि तर्हि, किं कार्यं ? कया ? अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनया—अपवर्गो मे भूयादित्यभिलापेण ।

एवं च संसारसुख एव निर्बन्धं कुर्वन्तं प्रबोध्यं तत्सुखदु.खस्य भ्रांतत्वप्रकाशनाय आचार्यः प्रबोधयति:—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि ॥६॥

टीका—एतत् प्रतीयमानं ऐन्द्रियकं सुखं दुःखं चास्ति । कीदृशं ? **वासनामात्रमेव** जीवस्योपकारकत्वापकारकत्वाभावेन परमार्थतो देहादौ उपेक्षणीये तत्त्वानवबोधात् इदं ममेष्टमुपकारकत्वात् इदं चानिष्टमपकारकत्वादिति विभ्रमाज्जातः संस्कारो वासना, इष्टानिष्टार्थानुभवानंतरमुद्भूतः स्वसंवेद्य आभिमानिक. परिणामो। वासनैव, न स्वाभाविकमात्मस्वरूपमित्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थो मात्र इति, स्वयोगव्यवस्थापकश्चैव शब्दः । केषां एतदेवंभूतमस्ति इत्याह—देहिनां—देह एवात्मत्वेन गृह्यमाणो अस्ति येषां ते देहिनो बहिरात्मानस्तेषां । एतदेव समर्थयितुमाह—तथाहीत्यादि । उक्तार्थस्य दृष्टान्तेन समर्थनार्थस्तथाहीति शब्दः । **उद्वेजयंति**—उद्वेगं कुर्वन्ति न सुखयन्ति । के ते ? एते सुखजनकत्वेन लोके प्रतीता **भोगाः** रमणीयरमणीप्रमुखा. इन्द्रियार्थाः । क इव ? **रोगा इव** ज्वरादिव्याधयो यथा । कस्यां गत्यामापदि—दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादित दौर्मनस्यलक्षणायां विपदि । तथा चोक्तम्—

"मुञ्चाङ्गं ग्लपयस्यलं क्षिप कुतोऽप्यक्षाणि विद्भात्यदो,
दूरे धेहि न हृष्य एव (च) जितभ्रान्त्या न वेत्सि क्षणम् ।
स्थेयं चेद्धि निरुन्धि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिप—
त्याश्लेषक्रमुकाङ्गरागललितालापैर्विधित्सू रतिम् ॥"

अपिच—'रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादा, वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः ।
नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां, सर्वारम्भास्तन्दुलप्रस्थमूलाः ॥"

तथा—'आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते (खिन्ने) मनसि सर्वमसह्यम् ॥"

इत्यादि, अतो ज्ञायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामात्रमेव, नाऽऽत्मनः स्वाभाविकानाकुलत्वस्वभावं । कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतानां अपि भावानां दुःखहेतुत्वं । एवं दुःखमपि ॥

एते सुखदुःखे खलु वासनामात्रे कथं न लक्ष्येते इति — अत्राह पुनः शिष्यः खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा । कथं ? केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते लोकैरिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ।

अत्राचार्यः प्रबोधयतिः—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

टीका—नहि-नैव लभते-परिच्छिनत्ति धातूनामनेकार्थत्वात् लभेर्ज्ञानेऽपि वृत्तिस्तथा चल्लोके वक्तिं-मयाऽस्य चित्तं लब्धमिति । किं तत् कर्तृ ? ज्ञानं धर्म-धर्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा । कं ? स्वभावं, स्वोऽसाधारणो—अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यक्त्यंतरेभ्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुर्भावो धर्मः स्वभावस्तं । केषां ? पदार्थानां । सुखदुःखशरीरादीनां । किंविशिष्टं सत् ज्ञानं ? संवृतं प्रच्छादितं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशने अभिभूतसामर्थ्यं । केन ? मोहेन—मोहनीयकर्मणो विपाकेन ।

तथाचोक्तम् [लघीयस्त्रये]—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथानैकप्रकारतः ।
कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानैकप्रकारतः ॥

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्म्मणाभिभवो युक्तः ? इत्यत्राह—**मत्त** इत्यादि । यथा नैव लभते । कोऽसौ ? **पुमान्** व्यवहारी पुरुषः । कं ? स्वभावं केषां ? पदार्थानां घटपटादीनां । किं विशिष्टः सन् ? **मत्तः** जनितमदः । कैः ? **मदनकोद्रवैः** ॥७॥

'**स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति**'—पुनराचार्य एव प्राह—विराधक इत्यादि यावत् **स्वभावं** शरीरादीनां स्वरूपं **अनासादयन्** अलभमानः पुरुषः **विसदृशानि** शरीरादीनि अन्यथाभूतानि **अवगच्छति** प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थं स्फुटयति—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

टीका—प्रपद्यते । कोऽसौ ? **मूढः** स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान् । कानि, वपुर्गृहादीनि वस्तूनि । किं विशिष्टानि ? स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः । अयमर्थः दृढतममोहाविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते—आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति । दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन । किंविशिष्टानि संति स्वानि प्रपद्यत इत्याह—**सर्वथान्यस्वभावानि**—सर्वेण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-लक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि । किं किं इत्याह—**वपुः** शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्धमस्ति । एवं **गृहं धनं दाराः** भार्याः **पुत्राः** आत्मजाः **मित्राणि** सुहृदः **शत्रवः** अमित्राः ॥८॥

अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः ।'—**अत्र** एतेषु वपुरादिषु मध्ये **हितवर्गं** हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तं उद्दिश्य विषयीकृत्य **दृष्टान्तः** उदाहरणं प्रदर्श्यते, अस्माभिरिति शेषः । तद्यथा:—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

टीका—**संवसंति** मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति के ते ? **खगाः** पक्षिणः । क्व क्व ? **नगे नगे** वृक्षे वृक्षे । किं कृत्वा ? **एत्य** आगत्य । केभ्यो ? **दिग्देशेभ्यः**—दिशः पूर्वादयो दिशं । देशस्तस्थैकदेशो(शा) अंगवंगादयस्तेभ्यो ऽवधिकृतेभ्यः तथा **यांति** गच्छन्ति । के ते ? खगाः । कासु ? **दिक्षु** दिग्देशेषु इति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमननियमनिवृत्त्यर्थं तेन यो यस्या दिशिगच्छति यश्च यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेवदेशे गच्छतीति नास्ति नियमः । किं तर्हि यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छंतीत्यर्थः । कस्मात् **स्वस्वकार्यवशात्** निजनिजकरणीयपारतंत्र्यात् । कदा कदा ? **प्रगे प्रगे** प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुः कालं यावत् संभूय तिष्ठंति तथा निजनिज(कर्म) पारतंत्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुः कालान्ते गच्छन्ति इति प्रतीहि । कथं भद्र ! तव दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मीयभावः ? यदि खलु एते त्वदात्मका स्युः तदा त्वयि तदवस्थयैव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः । यदि चैते तावकाः स्युस्तर्हि कथं ? तवप्रयोगमंतरेणैव यत्र क्वापि प्रयांतीति मोहग्रहावेशमपमार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयं ॥९॥

'अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते' अस्माभिरिति योज्यम्:—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति ।
त्र्यगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥१०॥

टीका—कथमित्यरुचौ, न श्रद्दधे । कथं **परिकुप्यति** समंतात् क्रुध्यति । कोऽसौ ? **विराधकः** अपकारकर्त्ता जनः । कस्मै ? **हंत्रे जनाय** प्रत्यपकारकाय लोकाय ।

'सुखं वा यदि वा दुःखं येन यच्च कृतं भुवि ।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥"

इत्यभिधानात् अन्याय्यमेतदिति भावः। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे-**त्र्यंगुल-**इत्यादिः—**पात्यते भूमौ** क्षिप्यते। कोऽसौ? यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः केन, **दंडेन** हस्तधार्यकाष्ठेन। कथं पात्यते? स्वयं—प्रेरणमंतरेणैव पात्यते। किं कुर्वन्? **पातयन्**—भूमिं प्रति नामयन्। किं तत्? त्र्यंगुलं अंगुलित्रयाकारं कच्चराद्याकर्षणावयत्रं। काभ्यां? **पद्भ्यां** पादाभ्यां, ततोऽहिते प्रीतिर्हिते चाऽप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया।

हिताहितयोः रागद्वेषौ कुर्वन्—अत्र विनेयः पृच्छति—**हिताहितयो राग-द्वेषौ कुर्वन किं कुरुते?** दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः किं कुरुते आत्मने, हितं कार्यं कुरुते येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः। अत्राऽऽचार्यः समाधत्ते—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राऽऽकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

टीका—भ्रमति संसरति। कोः? **असौ जीवश्चेतनः।** क्व? **संसाराब्धौ**—संसारः द्रव्यादिपरिवर्तनरूपो भवोऽब्धिः समुद्रइव दुःखहेतुत्वात् दुस्तरत्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्? **अज्ञानात्** देहादिष्वात्मविभ्रमात्। कियत्कालं? **सुचिरं** अतिदीर्घकालं। केन? **रागद्वेषद्वयी दीर्घनेत्राऽऽकर्षणकर्मणा**—रागः इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी—रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्ति ज्ञापनार्थं द्वयी ग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं। तथा चोक्तम् [ज्ञानार्णवे]—

'यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रमत्यधिकं मनः २३-२५ ॥'

अपि च—आत्मनि सति परसंज्ञा, स्व-पर-विभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते ॥

सा दीर्घनेत्रं आयतमंथाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्याकर्षणकर्म-जीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्याकर्षणत्वाभिमुखाऽऽनयनं तेन। अत्रोप-मानभूतो मंथदंड आक्षेप्यस्तेन यथा—नेत्राकर्षणव्यापारे मंथाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रांतो लोके प्रसिद्धस्तथा स्वपरविवेकानवबोधात्। यद्वद्भूतेन रागादिपरिणामेन

कारणे कार्योपचारात्तज्जनितकर्मबन्धेन संसारस्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रांतो भ्रमति भ्रमिष्यति इति । भ्रमतीति इति "अत्र तिष्ठंते पर्वता" इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटो विधानात् । उक्तं च—[पंचत्थिपाहुडे]—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि-सु-गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्य देहो देहादो इंदियाणि जायंति ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणो सणिहणो वा ॥१३०॥'

'तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष ? इति'—अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुङ्क्ते भगवन् ! तस्मिन्नपि संसारेपि न केवलं मोक्षे इत्यपि शब्दार्थः । यदि चेत्जीवः सुखी सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को दोषः ? न कश्चित् दोषो ? दोषः दुष्टत्वं, संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैवाप्तुमिष्टत्वात्; येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरन् इति अत्राऽऽह ।

विपद्भवपदाऽऽवर्ते पदिकेवातिवाह्यते ।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

टीका—वत्स ! यावत् अतिवाह्यते अतिक्रम्यते; प्रेर्यते, काऽसौ ? विपत् सहजशरीरमानसाऽऽगंतुकानामापदां मध्ये या काऽप्येका विवक्षिता आपत् । जीवेनेति शेषः । क्व ? भवपदाऽऽवर्ते भवः संसारः पदावर्तइव—पादचाल्यघटीयंत्रमिव—भूयो भूयः परिवर्तमानत्वात् । तस्मिन् क, इव ? पदिकाइव—पादाऽऽक्रांतदंडिका यथा तावद्भवंति । काः ? अन्याः अपूर्वा प्रचुरा—बह्व्यो विपदः आपदः पुरः अग्रे जीवस्य, पदिकेव, काछिकस्येति सामर्थ्याद्व्याख्या । अतो जानीहि दुःखैकनिबंधनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसारस्य अवश्यविनाशित्वम् ॥१२॥

'न सर्वे विपद्वन्तः स-संपदोपि दृश्यंत इति'—पुनः शिष्य एवाह भगवन् ! सर्वे समस्ता अपि संसारिणः विपद्वन्तः विपत्तियुक्ताः न सन्ति ससम्पदोऽपि दृश्यन्ते सश्रीकाणामपि केषांचिद् दृश्यमानत्वात् इति अत्राऽऽह—

दुरर्ज्येनाऽसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

टीका—भवति । कोऽसौ ? **जनः** जीवः लोकः । किंविशिष्टः ? **कोऽपि**—कश्चिदपि सर्वः । किंविशिष्टो भवति ? **स्वस्थंमन्यो** स्वथमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः । केन कृत्वा ? **धनादिना** द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन । किंविशिष्टेन ? **दुरर्ज्येन**—अपायबहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाऽर्ज्यत इति दुरर्ज्येन—तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावश्यं भावित्वात् । तथा नश्वरेण अशाश्वतेन रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवात् । अत्र दृष्टांतमाह—ज्वरेत्यादि-इव शब्दो यथार्थे इव यथा कोऽपि मुग्धो **ज्वरवान्** अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वराऽऽर्तः **सर्पिषा** घृतेन पानाद्युपयुक्तेन, **स्वस्थंमन्यो** भवति—निरामयमात्मानं मन्यते । ततो बुद्ध्यस्व—दुरुपार्ज्य-दूरक्षण-भंगुर-द्रव्यादिना दुःखमेव स्यात् । उक्तं च—

'अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थ दुःखभाजनम् ।''

एवं विधां संपदं कथं न त्यजतीति ।'—भूयोऽपि विनेयः पृच्छति **एवं विधां** अनेन दुरर्ज्यत्वादिप्रकारेण लोकद्वयोऽपि दुःखदां **सम्पदं** धनादिसंपत्ति **कथं न त्यजति** मुंचति जनः कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने । अत्रगुरुरुत्तरमाह—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमान-मृगाऽऽकीर्णवनांतर-तरुस्थवत् ॥१४॥

टीका—**नेक्षते** न पश्यति । कोऽसौ ? **मूढ**-धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः । कां ? **विपत्ति**–चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदं । कस्य ? **आत्मनः**-स्वस्य । केषामिव ? **परेषामिव**, यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाऽहमपि आक्रतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः । क इव ? **दह्यमान-मृगाकीर्ण-वनान्तर-तरुस्थवत्** दह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमान । तरु वृक्षमारूढो जनो यथा, आत्मनो मृगाणामिव विपत्ति न पश्यति ॥१४॥

कुत एतदिति ? लोभादिति—पुनराह शिष्यः भगवन् ! कुत कस्माद्धेतो एतत् इदं सन्निहिताया अपि विपदोऽदर्शनं जनस्य इति ? गुरुराह वत्स ! लोभादिति, धनादिगार्ध्यात् पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यंति इति। यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

टीका—वर्तते। किं तत् ? **धनं**। किंविशिष्टं ? **इष्टं** अभिमतं। कथं ? **सुतरां** अतिशयेन कस्मात् ? **जीवितात्** प्राणेभ्यः। केषां ? **धनिनां** किं कुर्वतां ? **वांछतां**। कं ? **निर्गमं** अतिशयेन गमनं। कस्य ? **कालस्य**। किंविशिष्टं ? **आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं** आयुः क्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालांतरवर्द्धनस्य कारणं अयमर्थः—धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वांछंति। अतो 'धिग्धनम्' एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्।

धनं कथं निंद्यं ? येन पुण्यमुपार्ज्यते इति'—अत्राह शिष्यः। पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात्, पुण्यसाधनं धनं कथं निंद्यं ? किं तर्हि प्रशस्यमेव अतो **येन** धनेन यथा कथचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयं इति अत्राह—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

टीका—यः अवित्तः, निर्धनः सन् **संचिनोति** सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति। किं तत् ? **वित्तं**-धनं। कस्मै ? **त्यागाय** पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात्। कस्मै त्यागः ? **श्रेयसे** अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय। यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिद्ध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदानादिकमपि करोतु इति भावः। स किं करोति इत्याह **विलिंपति** विलेपनं करोति। कोऽसौ ? सः, किं तत् ? **स्वशरीरं**। केन ? **पङ्केन**-कर्दमेन। कथं कृत्वा इत्याह **स्नास्यामीति**। अयमर्थः, यथा कश्चिन्निर्मलमङ्गं स्नानं करिष्यामीति पंकेन

दुरर्ज्येनाऽसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

टीका—भवति । कोऽसौ ? जनः जीवः लोकः । किंविशिष्टः ? कोऽपि—कश्चिदपि सर्वः । किंविशिष्टो भवति ? **स्वस्थंमन्यो** स्वथमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः । केन कृत्वा ? **धनादिना** द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन । किंविशिष्टेन ? **दुरर्ज्येन**—अपायबहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाऽर्ज्यत इति दुरर्ज्येन—तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावश्यं भावित्वात् । तथा नश्वरेण अशाश्वतेन रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवात् । अत्र दृष्टांतमाह—ज्वरेत्यादि·इव शब्दो यथार्थे इव यथा कोऽपि मुग्धो **ज्वरवान्** अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वराऽऽर्तः **सर्पिषा** घृतेन पानाद्युपयुक्तेन, **स्वस्थंमन्यो** भवति—निरामयमात्मानं मन्यते । ततो बुद्ध्यस्व—दुरुपार्ज्य-दूरक्षण-भंगुर-द्रव्यादिना दुःखमेव स्यात् । उक्तं च—

'अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ।"

एवं विधां संपदं कथं न त्यजतीति ।'—भूयोऽपि विनेयः पृच्छति एवं विधां अनेन दुरर्ज्यत्वादिप्रकारेण लोकद्वयोऽपि दुःखदां **सम्पदं** धनादिसंपत्ति **कथं न त्यजति** मुंचति जनः कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने । अत्रगुरुरुत्तरमाह—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमान-मृगाऽऽकीर्णवनांतर-तरुस्थवत् ॥१४॥

टीका—**नेक्षते** न पश्यति । कोऽसौ ? **मूढः**-धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः । कां ? **विपत्ति**—चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदं । कस्य ? **आत्मनः**-स्वस्य । केषामिव ? **परेषामिव**, यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाऽहमपि आक्रंतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः । क इव ? **दह्यमान-मृगाकीर्ण-वनान्तर-तरुस्थवत्** दह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमानं । तरुं वृक्षमारूढो जनो यथा, आत्मनो मृगाणामिव विपत्ति न पश्यति ॥१४॥

कुत एतदिति ? लोभादिति—पुनराह शिष्यः भगवन् ! कुत कस्माद्धेतो एतत् इदं सन्निहिताया अपि विपदोऽदर्शनं जनस्य इति ? गुरुराह वत्स ! लोभादिति, धनादिगार्ध्यात् पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यंति इति। यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

टीका—वर्तते। किं तत् ? धनं। किंविशिष्टं ? इष्टं अभिमतं। कथं ? **सुतरां** अतिशयेन कस्मात् ? **जीवितात्** प्राणेभ्यः। केषां ? **धनिनां** किं कुर्वतां ? **वांछतां**। कं ? **निर्गमं** अतिशयेन गमनं। कस्य ? **कालस्य**। किंविशिष्टं ? **आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं** आयुः क्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालांतरवर्द्धनस्य कारणं अयमर्थः–धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वांछंति। अतो 'धिग्धनम्' एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्।

धनं कथं निंद्यं ? येन पुण्यमुपार्ज्यते इति'—अत्राह शिष्यः। पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात्, पुण्यसाधनं धनं कथं निंद्यं ? किं तर्हि प्रशस्यमेव अतो येन धनेन यथा कथचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयं इति अत्राह—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

टीका—यः अवित्तः, निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति। किं तत् ? वित्तं-धनं। कस्मै ? त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात्। कस्मै त्यागः ? श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय। यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिद्ध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदानादिकमपि करोतु इति भावः। स किं करोति इत्याह विलिंपति विलेपनं करोति।

विलिपन् असीक्ष्यकारी तथा पापेन धनुमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन पापं क्षपयिष्या मीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं संभवति

तथा चोक्तम् [आत्मानुशासने]—

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
नहि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥"

'**भोगोपभोगायस्यादिति तदपि नेति यतः**'—पुनराह शिष्यः भगवन् ! यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निद्यं, तर्हि धनं विना सुखहेतो र्भोगोपभोगस्यासंभवात् तदर्थं धनं **स्यादिति** प्रशस्यं भविष्यतीति । **भोगो भोगाय** भोगो-भोजनताम्बूलादिः । उपभोगो-वास्तुकामिन्यादिः । भोगाश्चोप भोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै । **तदपि नेतियत् न तदपि** केवलं पुण्यहेतुतया धं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तर्हि ? भोगोपभोगार्थं तत्सा धनं प्रशस्यमिति यत्त्वया संप्रति उच्यते तदपि न स्यात् । कुत इति चेत्, यतः

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान कामं* कामान् कः सेवते सुधीः ॥१७॥

टीका—कः, न कश्चित् सुधीः विद्वान् सेवते इंद्रियप्रणालिकयाऽनुभवति कान् ? भोगोपभोगान् । उक्तं च—

"तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥"

कथं भूतान्, **कामान् तापकान्** देहेंद्रियमनः क्लेशहेतून् । क्व ? आरंभे उत्पत्त्युपक्रमे । अन्नादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुलतया सर्वजनसु प्रसिद्धत्वात् । तर्हि किं भुज्यमानाः कामाः संभूतिसेव्यास्ते इति अत्राह । प्राप्तं इन्द्रियेण सम्बन्धे सति **अतृप्ति प्रतिपादकान्** अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उक्तं च [ज्ञानार्णवे]—

"अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥"२०-३०

---

* कामान् काम इति पाठः ।

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वातृप्तेषु तेषु तृष्णासंतापः शाम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह । अंते सुदुस्त्यजान् भुक्तिप्रांते त्यक्तुमशक्यान् । सुभक्तेष्वपि तेषु मनोव्यतिपङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । उक्तं च [चन्द्रप्रभचरिते]—

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु काऽपि कर्म्मणः ।।

अपि च—किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन ।
प्रसभमनुभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ।।"

ननु तत्त्वविदोऽपि भोगानभुक्तवंतो न श्रूयंते इति **कामान् कः सेवते सुधीः** इत्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह **कामं** इति । कामं अत्यर्थं । इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते, मंदीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञान-वैराग्य-भावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव । तथा चोक्तम्—

'इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेव क्रमो, व्ययोऽयमनुषंगजं फलमिदं दशयं मम ।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिकालदेशाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ।।

किंच '**यदर्थमेतदेवंविधमिति** ।'—(स एव विध इति) भद्र ! यदर्थं यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं उपकर्तुं कामस्त्वया प्रार्थ्यते एतद् एवं विधं वक्ष्यमाण लक्षणमित्यर्थः , स एवंविध इत्यपि पाठः । तद्यथा—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ।।१८।।

टीका—वर्तते । कोऽसौ? स कायः शरीरं । किंविशिष्टः? संततापायः नित्य-क्षुधाद्युपतापः । स क, इत्याह—यत्संगं—येन कायेन सह संबंधं, प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्ररम्याण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवंति । यतश्चैवं ततस्तदर्थं तं संततापायं, कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकांक्षा तेषामेव वृथा-व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे पराऽपरापायो-पनिपातसम्भवात् ।।१८।।

'तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति' तन्नेति पुनरप्याह शिष्यः ! भगवन् ! संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकामो न स्यात्तर्हि धनादिनाऽपि न केवलमनशनादितपश्चरणेन इत्यपि शब्दार्थः। आत्मनो जीवस्योपकारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः। गुरुराह। यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यते तन्न तन्नास्तीति। यतः—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्याऽपकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

टीका—यत् अनशनादितपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपणनिवारणाभ्यां उपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात्। यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्ज्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिदुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगंधोऽप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारकत्वात्।

तर्हि कायस्योपकारश्चित्यते इति तन्नेति—अत्राह शिष्यः। भगवन् ! यद्येवं तर्हि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय यत्नः क्रियते न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यं। ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात्। तथा चोक्तम् [तत्त्वानुशासने]—

"यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाऽग्रकारणम्" ॥२१७॥

'झाणस्स ण दुल्लहं किंपि इति च—अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह तन्न ध्यानेन कायस्योपकारो न चिंत्य इत्यर्थः। [यतः]

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाऽऽद्रियन्तां विवेकिनः ॥२०॥

टीका—अस्ति। कोऽसौ ? चिन्तामणिः—चिंतनार्थप्रदो रत्नविशेषः। किंविशिष्टः ? दिव्यो देवेनाधिष्ठितः। क्व इतः ? अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे

इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डक कुत्सितं अल्पं वा खलखंडकं अस्ति । एते च उभे द्वे अपि यदि ध्यानेन लभ्ये-अवश्यं लभ्ये, तर्हि कथय एव द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनः लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियंतां आदरं कुर्वन्तु । तदैहिकफलाभिलापं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः । उक्तं च [तत्त्वानुशासने]—

"तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ।।"२२०

स आत्मा कीदृश इति—अथैवमुद्बोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति यो युष्माभिर्ध्यातिव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किंस्वरूप इत्यर्थः । गुरुराह:—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ।।२१।।

टीका—अस्ति । कोऽसौ ? आत्मा । कीदृशः ? लोकालोकविलोकनः लोकोजीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतया लोक्यते पश्यति जानाति इति [विलोकनः]। एतेन "ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा" इति सांख्यमतं, बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमानिति योगमतं च प्रत्युक्तं । प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो बौद्धानां । पुनः कीदृशः ? अत्यन्तसौख्यवान्-अनन्तसुखस्वभावः एतेन सांख्ययौगतन्त्रं प्रत्याहतं । पुनरपि कीदृशः? तनुमात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः इति । एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वदंतौ प्रत्याख्यातौ । पुनरपि कीदृशः ? निरत्ययाः द्रव्यरूपतया नित्यः एतेन गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चार्वाको निराकृतः ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येव गुणवादः श्रेयान्-नचात्मनस्तथा प्रमाणसिद्धत्वमस्तीत्यारेकायामाह । स्वसंवेदन–सुव्यक्तः इति । [उक्तं च तत्त्वानुशासने]—

"वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ।।१६१।।

इत्येवं लक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण सकलप्रमाणधुर्येण सुव्यक्तः सु-सुष्ठु उक्तैश्च गुणैः संव्यक्तः इत्यपि पाठः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वैकदेशेन ?।।२१।।

यद्येवं, तस्योपास्तिः कथमिति ?

अत्राह शिष्यः—यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम् । गुरुराह—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

टीका—ध्यायेत्—भावयेत्, कोऽसौ ? आत्मवान् गुप्तेंद्रियमनाध्यस्त ? स्वायत्तवृत्तिर्वा । कं ? आत्मानं यथोक्तस्वभावं पुरुषं । केन ? आत्मनैव स्वसंवेदनरूपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ करणांतराभावात् उक्तं च [तत्त्वानुशासने]—

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम् ।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥"

क्व तिष्ठंतं इत्याह—आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूप मात्राधारत्वात् । किं कृत्वा ? संयम्य-रूपादिभ्यो व्यावृत्य । किं ? करणग्रामं चक्षुरादींद्रियगणं । केनोपायेन ? एकाग्रत्वेन-एकं विवक्षितमात्मानं तं द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं प्राधान्येनालंबनं विषयो यस्य [तत्] अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं अग्रं आत्म ग्राह्य यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन । कस्य? चेतसः मनसः । अयमर्थः यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टंभात् आलंबितेन मनसा । इन्द्रियाणि निरुद्ध्य स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिंतां त्यक्त्वा स्वसंवेदनेनैवात्मानमनुभवेत् । उक्तं च—

"गहियं तं सुयणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा ।
जो ण हु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावां ॥"

तथा च [समाधितंत्रे]—"प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥"२२॥

आत्मोपासनया किमिति—अथाह शिष्यः—भगवन् आत्मोपासनया आत्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् ? फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन् (गुरु)राचष्टे:—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
"ददाति यत्तु यस्यास्ति"–सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

टीका—ददाति । काऽसौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रांतिः(न्तेः) संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा किं ? अज्ञानं, मोहभ्रमसन्देहलक्षणं तथा ददाति । कोऽसौ ? ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादेर्वा **समाश्रयः** । अनन्यपरतया सेवनं । किं ? ज्ञानं स्वार्थविबोधं । उक्तं च—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥

कोऽत्र दृष्टांतः ? इत्याह–यद् इत्यादि ददाति इत्यत्रापि योज्यं। 'तु अवधारेण' तेनायमर्थः संपद्यते । यदेव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानस्तदेव ददातीतिएतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्रमात्मानमात्मनाऽऽत्मनि सेव्यश्च ॥२३॥

ज्ञानिनः किं ? इति ।

अत्राऽभ्याह शिष्यः । ज्ञानिनः अध्यात्मस्थस्य किं भवती इति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोऽयम् । गुरुराह—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

टीका—**जायते** भवति । काऽसौ ? **निर्ज्जरा**–एकदेशेन संक्षयो विश्लेषइत्यर्थः । केषां ? **कर्म्मणां** सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां शुभानां च साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनां कथं ? **आशु**-सद्यः । केन ? **अध्यात्मयोगेन** आत्मन्यात्मनः प्राणिधानेन, किं केवला ? नेव इत्याह-**निरोधिनी**–प्रतिषेधयुक्ता कस्य ? आस्रवस्य आगमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यं कुत इत्याह [परिषहाद्यविज्ञानात्] परीषहाणां क्षुधादि दुःखभेदानां आदिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्गबाधानां अविज्ञात् असंवेदनात्। तथा चोक्तम्—

'यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः' ॥१॥

तथाच—[तत्त्वानुशासने]—

'तथाह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्तः सदा ।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाऽशुभकर्मणां ॥२२५॥

अपि च—[समाधितन्त्रे]—

आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

सा खलु कर्म्मणो भवति तस्य सम्बन्धस्तदा कथमिति । (श्रूयतां)

टीका—एतच्च व्यवहारनयादुच्यते । कुत ? इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह । वत्स ! आकर्णय खलु यस्मात् सा एकदेशेन विश्लेपलक्षणा निर्ज्जरा कर्मणः चित्समान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मण. सम्बन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवत् तस्य द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले सम्बन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह । कथं ? केन संयोगादिप्रकारेण सम्भवति ? इति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षस्व न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः । यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात् कथं द्रव्यांतरेण संबंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात् । न चैतत् संसारिणो न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्पंचह्रस्वस्वरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य (तत्)-लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्म्मपारतन्त्र्यव्यवहरणात् ।

तथाचोक्तम परमागमे—

"सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥"

श्रूयतां चास्यैवाऽर्थस्य संग्रहश्लोकः—

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

टीका—स्यात् भवेत् । कोऽसौ ? सम्बन्धः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः । कयोः ?

द्वयोर्द्वयोः कथंचिद्भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथं-मिति यथाहमस्मि । कीदृशः, कर्ता निर्माता । कस्य ? कटस्य वंशदलानां जला-दिप्रतिबंधाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबंधस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेक-माह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्याति क्रियां प्रति करणं कर्ता वा । उक्तं च; [तत्त्वानुशासने]—

'ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ६७ ॥'

ध्यायत इति ध्येयं (तच्च)ध्यातिक्रिययाऽऽप्यं । यदा यस्मिन् आत्मनः परमा-त्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात् तदा कीदृशः (संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् 'येन जायते) ऽध्यात्मयोगेन कर्म्मणामाशु निर्ज्जरेति' परमार्थतः कथ्यते ।

तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्चमोक्ष इति ?—अत्राह शिष्यः भगवन् ! यदि आत्मकर्मद्रव्योयरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोः बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात् । तत्पूर्वकत्वात् विश्लेषस्य, कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात् तस्यैवा-नंतर१ सुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुरुराह—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

टीका—मम इत्यव्ययं ममेदं इत्यभिनिवेशार्थं अव्ययानां तेन अनेकार्थत्वात् सममो ममेदं इत्यभिनिवेशाविष्टो ऽहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम्—

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।'
यदैक्यमुपयोगभूसमुपयातिरागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥

तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च [ज्ञानार्णवे]—

---

१. अनन्तर पाठः ।

तथाच—[तत्त्वानुशासने]—

'तथाह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्तः सदा।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाऽशुभकर्मणां ॥२२५॥

अपि च—[समाधितन्त्रे]—

आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

सा खलु कर्म्मणो भवति तस्य सम्बन्धस्तदा कथमिति। (श्रूयतां)

टीका—एतच्च व्यवहारनयादुच्यते। कुत ? इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह। वत्स ! आकर्णय खलु यस्मात् सा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्ज्जरा कर्मणः चित्समान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः सम्बन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवत् तस्य द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले सम्बन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह। कथं ? केन संयोगादिप्रकारेण सम्भवति ? इति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षस्व न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः। यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात् कथं द्रव्यांतरेण संबंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात्। न चैतत् संसारिणो न संभवतीति वाच्यं। संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्पंचह्रस्वस्वरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य (तत्)-लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्म्मपारतन्त्र्यव्यवहरणात्।

तथाचोक्तम् परमागमे—

"सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥"

श्रूयतां चास्यैवाऽर्थस्य संग्रहश्लोकः—

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

टीका—स्यात् भवेत्। कोऽसौ ? सम्बन्धः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः। कयोः ?

द्वयोर्द्वयोः कथंचिद्भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथंमिति यथाहमस्मि । कीदृशः, कर्ता निर्माता । कस्य ? कटस्य वंशदलानां जलादिप्रतिबंधाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबंधस्य द्दिष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्याति क्रियां प्रति करणं कर्ता वा । उक्तं च; [तत्त्वानुशासने]—

'ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ६७ ॥'

ध्यायत इति ध्येयं (तच्च) ध्यातिक्रिययाऽऽप्यं । यदा यस्मिन् आत्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात् तदा कीदृशः (संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् 'येन जायते) ऽध्यात्मयोगेन कर्म्मणामाशु निर्ज्जरेति' परमार्थतः कथ्यते ।

तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्चमोक्ष इति ?—अत्राह शिष्यः भगवन् ! यदि आत्मकर्मद्रव्योयरध्यात्मयोगेन विश्लेपः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोः बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेपः स्यात् । तत्पूर्वकत्वात् विश्लेपस्य, कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेपलक्षणो जीवस्य स्यात् तस्यैवानंतर१ सुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुरुराह—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

टीका—मम इत्यव्ययं ममेदं इत्यभिनिवेशार्थं अव्ययानां तेन अनेकार्थत्वात् सममो ममेदं इत्यभिनिवेशाविष्टो ऽहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम्—

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।'
यदैक्यमुपयोगभूःसमुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥

तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च [ज्ञानार्णवे]—

१. अनन्तर पाठः ।

तर्ह्येतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यंति इति तन्नेति—यद्युक्तरीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादि वस्तूनि आसाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानि इदानीं भेदभावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि । चिराभ्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पश्चात्तापकारीणि किमिति इमानि मया-ऽऽत्मीयानि त्यक्तानीति अनुशयकारीणि मम भविष्यंति ।

अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति तन्नेति यतः—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ? ॥३०॥

टीका—मोहात् अविद्यावेशवशात् अनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय, सर्वेऽपि पुद्गलाः मया संसारिणा जीवेन वारंवारं भुक्तोज्झिता पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ता; यतश्चैवं तत उच्छिष्टेष्विव स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु भोजन-गंधमाल्यादिषु यथा लोकस्य तथा मम मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु पुद्गलेषु का स्पृहा ? न काचिदपि । वत्स ! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिंतनीयम् ॥३०॥

अथ कथं ते निबध्यंत इति—अत्राह शिष्यः । अथेति प्रश्ने कथं केन प्रका-रेण ते पुद्गला जीवेन नियतमुपादीयन्त इत्यर्थः गुरुराह—

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।
स्व-स्व-प्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥३१॥

टीका—"कत्थवि वलिओ जीवो कत्थवि कम्माइं हुंति वलियाइं ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइं वइराइं ॥"

इत्यभिधानात् पूर्वोपार्जितं बलवत्कर्महिताऽऽबन्धि कर्मणः स्वस्यैव हितमा-बध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णा-तीत्यर्थः । तथाचोक्तं [पुरुषार्थसिद्ध्युपाये]—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा जीवहितस्पृहः जीवस्यैव हितमनंत-सुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकांक्षति । अत्र दृष्टान्तमाह—स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे निजनिजमाहात्म्यबहुतरत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को वा न वांछति? सर्वोऽप्यभिलपतीत्यर्थः, ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्मसंचिनोति इत्यर्थः ॥३२॥

यतश्चैवं ततः—

परोपकार❀मृत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

टीका—**परोपकारं** परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं **उत्सृज्य** विद्याभ्यासेन त्यक्त्वा **स्वोकारपरः** आत्मानुग्रहप्रधानो भव त्वम् । किं कुर्वन सन्? **उपकुर्वन्**! कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्य इति इन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः । किं विशिष्टः यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवत् लोकवत् । यथा लोकः परं परत्वेनाऽजानंत्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवति एवं त्वमपि भव इत्यर्थः ॥३२॥

अथाह शिष्यः,—**कथं तयोर्विशेष इति**—केनोपायेन तयो स्वपरयोः भेदः विशेषः विज्ञायते । तद्वि(द्वि) ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः । गुरुराह—

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥

टीका—यो **जानाति** । किं तत् **स्वपरांतरं** आत्म-परयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः । कुतः **संवित्तेः** लक्षणतः स्वलक्ष्यानुभवात् । एपोऽपि कुतः? **अभ्यासात्** अभ्यासभावनातः । एषोऽपि कुतः? **गुरूपदेशात्** धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढ-स्व-पर-विवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वात्मानुभविता **मोक्षसौख्यं निरन्तरम**विच्छिन्नमनुभवति । कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथाचोक्तं [तत्वानुशासने]—

'तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरम् ॥१७०॥' इत्यादि

❀ परोपकृति इति पाठः ।

कस्तत्र गुरुरिति—अथ शिष्यः पृच्छति। तत्र मोक्षसुखानुभवविषये को गुरुरिति गुरुराह—

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित [तं] प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

टीका—यः खलु शिष्यः **सदा अभीक्ष्णं** कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्यमानं तदुपायं तं ज्ञापयति तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः **आत्मैव** गुरुः स्यात्। कुत इत्याह—स्वयमात्मना **स्वस्मिन्**-मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि **सदाभिलाषित्वात्** सत् प्रशस्तं मोक्षसुखं सदाभिलाषित्वात् इति वा पाठः सदा अभीक्ष्णमभिलषति मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षती त्येवंभ्रमात्। तथा अभीष्ट **ज्ञापकत्वतः**, अभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वात् एष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात्। तथा स्वयं प्रयोक्तृत्वात् हित मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृत्वात्। अस्मिन् सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन् आत्मन्! स्वयमद्यापि न प्रवृत्तः इति। तत्राप्रवर्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् ॥३४॥

एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति—न चैव मेतदिति। अथ शिष्यः साक्षेपमाह भगवन्नुक्तनी(री)त्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति न धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुं इति। मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः। **न चैवमेतादि**ति वाच्यमपसिद्धांत प्रसंगादिति वदन्तं प्रत्याह—

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

टीका—भद्र! अज्ञः यः तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्यो-भव्यादि[१] सविज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रिया गुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बकः॥

तथा विज्ञः तत्त्वज्ञानपरिणतः अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशं न ऋच्छति अपाय[२] सहस्रेणापि न गच्छति। तथाचोक्तम्—[पद्मनंदि पंचविंशतिकायां]

---

१. 'अपेक्ष्येत' पाठः। २. उपाय इति पाठः।

'वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके ,
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात् ;
बोध - प्रदीप - हत - मोहमहांधकाराः ,
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥'

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात् ।

कस्याः को यथेत्यत्राह गते धर्माऽस्तिकाय कायवत इत्यादि । अयमर्थाः यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्त्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात्, एवं प्रकृतेऽपि, अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या ॥३५॥

अभ्यासः कथमिति ?—अथाह शिष्यः अभ्यासः कथ्यत इति क्वचित्पाठः अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयं । तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् । कथ्यते तस्य स्थाननियमादिरूपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः । एवं संवित्तिरिति । उच्यते इति संवित्तिरुच्यत इत्युत्तरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यम् । तथा च—

गुरोरेवैते वाक्ये व्याख्येये—शिष्यबोधार्थं गुरुराह;—

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥

टीका—अभ्यस्येत् भावयेत् कोसौ, ? योगी संयमी । किं ? तत्त्वं याथात्म्यं । कस्य ? निजात्मनः । केन ? अभियोगेन आलस्यनिद्रादिनिरासेन ? क्व ? एकांते योग्यशून्यगृहादौ । किं विशिष्टःसन् —? अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयं इत्थंभूतः सन् । किंभूतो भूत्वा ? तथाभूतः इत्याह । तत्त्वसंस्थितः तत्त्वे हेये उपादेये च संस्थितः गुरुपदेशान्निश्चलधीः यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तकायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः ॥३६॥

संवित्तिरिति ! उच्यते इति ।

अभ्यासः कथमित्यनुवर्त्य नायमर्थः ते संयम्यते ?-अथाह शिष्यः भगवन् ! उक्तलक्षणासंवित्तिः प्रवर्तमाना कथं—केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते ? अत्राचार्यो वक्ति । धीमन् आकर्णय उच्यते वर्ण्यते तल्लिंगं तावन्मया इत्यर्थः ।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

टीका—येन येन प्रकारेण संवित्तौ उत्तमं विशुद्धमात्मस्वरूपं समायाति सांमुख्येनाऽऽगच्छति योगिनः तथा तथा [तेन तेन प्रकारेण] सुलभा अपि अनायासलभ्या अपि विषया रम्येंद्रियार्था न रोचन्ते तत्त्वं भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति । महासुखलब्धावल्पसुखकारणाना लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात् । तथाचोक्तम्—

"शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गारः ॥१॥"

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यथा—

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

टीका—अत्रापि पूर्ववद् व्याख्यानम् तथा चोक्तम् [समयसारकलशायां]—

"विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं ।

गच्छति ततोऽन्यत्र न याति इति न प्रसिद्धं प्रतीतं। अतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोऽननुभूताऽपूर्वानंदाऽनुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति ॥४३॥

अन्यत्राऽप्रवर्त्तमानश्चेदृक् स्यात्—

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयेते न विमुच्यते ॥४४॥

टीका—स्वात्मतत्त्वनिष्ठोऽन्यत्र अगच्छन् अप्रवर्तमानः तद्विषेणां तस्य स्वात्मनोऽन्यस्य देहादेर्विशेषाणां सौंदर्यासौंदर्यादिधर्माणां अनभिज्ञश्च आभिमुख्येनाऽप्रतिपत्ता च जायते-भवति। तु पुनः अज्ञाततद्विशेषः तत्राऽजा(ज्ञा)यमानरागद्वेषत्वात् कर्मभिः न बध्यते। किं तर्हि विमुच्यते विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते ॥४४॥

किं च—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् ।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

टीका—परो देहादिरर्थः पर एव, कथंचिदपि तस्याऽऽत्मीकर्त्तुमशक्यत्वात् यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणाद् दुःखमेव स्यात् तद्वारत्वाद् दुःख-निमित्तानां प्रवृत्तेः। तथा आत्मा आत्मैव स्यात् तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वाऽनुपादानात्। यतश्चैवं ततः तस्मात् सुखं स्यादुःखनिमित्तनां तस्याविषयत्वात्। यतश्चैवं, अतएव महात्मानस्तीर्थंकरादयः तन्निमित्तं आत्मार्थं कृतोद्यमाः विहित-तपानुष्ठानाभियोगाः सञ्जाताः।

अथ परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति :—

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

टीका—यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनंदति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोः जीवस्य तत् पुद्गलद्रव्यं चतुर्गतिषु चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोगसंबंधं जातु कदाचिदपि न मुञ्चति त्यजति ॥४६॥

किं स्वरूप परस्य किं भवति ?

अथाह शिष्यः स्वरूपपरस्य किं भवतीति—सुगमम् गुरुराह—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः ॥४७॥

टीका—आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेव्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्र निष्ठस्य तत्परस्य व्यवहारबहिःस्थितेः व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्वहिःस्थितेः वाह्यस्य योगिनः ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामगोचरः परमानन्दः परमोऽनन्यसंभवी आनन्दः उत्पद्यते ॥४७॥

तत्कार्यमुच्यते—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धन[१]मनारतम् ।
न चाऽसौ खिद्यते योगी वहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

टीका—स पुनरानन्दः उद्धं प्रभूतं कर्मेन्धनं अनारतं सन्ततं (कर्मसंततिं) निर्दहति । वह्निरिंधनं यथा । किं च असौ आनन्दाविष्टो योगी वहिर्दुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषु अचेतनः असंवेदनः स्यात् तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति ।४८

यस्मादेवं तस्मात्—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

टीका—तत् आनंदस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थविभासात्मकं परं उत्कृष्टं अविद्याभिदुरं विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलं इन्द्रादीनां पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यंमुमुक्षुभिःर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यं । तथा तदेव एष्टव्यं अभिलषणीयं, तदेव च द्रष्टव्यमनुभवनीयं ॥४९॥

किं वहुनेति ?

---

१. कर्मेन्धनमनारतं सन्ततं इत्यस्य स्थाने कर्म सन्तति इत्येव पाठः मु० ।

एवं व्युत्पाद्यं विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह—

हे सुमते ! किं कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयो संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेषयितुं शक्यत्वात् इति भावः ।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥

टीका—जीवो अन्यः देहादेर्भिन्नः पुद्गलश्च देहादिश्च अन्यः जीवाद्भिन्नः इति इत्यानेव असौ विधीयते तत्त्व संग्रहः आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यतः पुनः इतस्तत्त्वसंग्रहात् अन्यत् अतिरिक्त किंचित् तद्भेदप्रभेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षयाऽऽचार्यैः उच्यते । स तस्यैव विस्तरो व्यासः अस्तु तमपि वयमभिनंदाम इति भावः ॥५०॥

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारम्पर्येण च फलं प्रतिपादयति :—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य ।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा।
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

टीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं, इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानं उपदिश्यते-यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा 'इष्टोपदेशो' नाम ग्रन्थस्तं सम्यग् व्यवहारनिश्चयाभ्यां अधीत्य पठित्वा चिंतयित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो जीव मुक्तिश्रियं अनंतज्ञानादिसम्पदं निरुपमां अनौपम्यां [उपयाति] प्राप्नोति । किं कुर्वन् ? मुक्ताग्रहः वर्जितबहिरर्थाभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने ऽरण्ये वा विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन् । किं कृत्वा ? वितन्य विशेषेण विस्तार्य । का ? मानोऽपमानसमतां माने महत्वाधाने अपमाने च महत्वखण्डने समतां रागद्वेषयोरभावं । कस्माद्धेतोः ? स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिंतनजनितात् आत्मज्ञानात् । उक्तं च [समाधितन्त्रे]—

"यदा मोहात्प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् ॥" इति श्रयः ।

[इति इष्टोपदेश टीका]

टीका कर्तुः प्रशस्तिः

विनेयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥१॥

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रा,
दजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसंदर्भगर्भाः,
शुचिचरित-वरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ॥२॥

जयंति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः ॥३॥

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्ताः ॥

इष्टोपदेशपद्यानुक्रम-सूची

—:o:—

वीर-शासन-संघ के प्रकाशन

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० मूल्य सजिल्द ... ...५)

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०)

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ... ६)

व्यवस्थापक
वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज, दिल्ली-६